वैदिकधर्म

संपादक
पं. श्रीपाद दामोदर सातवळेकर

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।=) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।
इस अंकका मू. ॥) रु.

कार्तिक सं. २००३
नवम्बर १९४६

क्रमांक ३२३

विषयसूची

वैदिकधर्म

क्रमांक ३२३

वर्ष २७ | कार्तिक विक्रमीय संवत् २००३; नवम्बर १९४६ | अङ्क ११

विजयके लिये प्रार्थना

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

(ऋ. १, १८९, १; वा. य. ४०, १६)

'हे सर्व-प्रकाशक प्रभो ! ऐश्वर्य प्राप्त करनेके लिये हम सबको सन्मार्गसे ले चलो। हे प्रभो ! हमारे सब कर्मोंको आप उत्तम रीतिसे जानते हैं। कुटिलता, पाप तथा अन्यायको हम सबसे दूर करो, (जिससे हम पवित्र बनेंगे) और हम सब मिलकर आपको प्रणाम करेंगे।'

परमेश्वर सब सत्य मार्गोंका प्रकाशक है। वह हम सबको सन्मार्गसेही ऐश्वर्यप्राप्तितक ले चले। हमें ऐश्वर्य चाहिये पर वह शुभ मार्गसे जो मिल सकता है, वही चाहिये। अशुभ मार्गसे मिलनेवाला नहीं चाहिये। प्रभु सबके कर्मोंको अच्छी तरह जानता है, अतः वही कुटिलताको दूर हटा सकता है। कुटिलता तो हमें ही दूर करनेके हटानी होगी, वैसा करनेके लिये प्रभुकी सहायता हो। इस कृपाके लिये हम प्रभुको सहस्रशः प्रणाम करते हैं।

नेताओंका आदेश

श्री पूजनीय महात्मा गांधीजी कहते हैं—

' अहिंसक मनुष्य प्रतिकार न करता हुआ, प्रक्षुब्ध न होता हुआ और द्वेष न करता हुआ, अपने तथा अपने बालबच्चोंके और स्त्रियोंके सम्मानका संरक्षण करते करते मर जायगा, यह शूरवीरताका सबसे बडा लक्षण है । यदि इस आदर्शका पालन नहीं हो सकता, तो उस मनुष्यको अथवा उस संघको उचित है कि वह मृत्युके आने तक प्रतिकार और प्रतिप्रहार करता रहे। डरना हिंसा करनेकी अपेक्षा बहुतही बुरा दुर्गुण है। डरपोक मनुष्य स्वयं अपने मरनेके लिये डरता रहता है, पर साथ साथ बदला लेनेका भी सोचता रहता है । डरपोक मनुष्य अपनी सुरक्षा करनेके लिये तथा बदला लेनेके लिये दूसरेके पास अथवा सरकारके पास देखता रहता है। डरपोक मनुष्य मानवतासे भी गिरा प्राणी है, वह समाजका अंग होकर जीवित रहनेके लिये भी अयोग्य है । '

फिर ता. २४ के दिन प्रार्थनाके समय महात्माजीने फिरसे कहा—

'' बंगालमें जो अत्याचार किये जा रहे हैं, उनको सुनकर जिनका हृदय फटता नहीं, ऐसा एक भी पत्थरके हृदयवाला आदमी हमारेमें नहीं होगा, यह मैं आप लोगोंको निश्चयसे कहता हूं ।

' यह समय प्रत्यक्ष कृति करनेका है, केवल वक्तव्य करनेका यह समय नहीं है। मारो. अथवा मरो, पर केवल बातेंही न करते हुए, मारनेको और मरनेको सीखो। पर मैं तो तुम्हें केवल मरनेकाही शास्त्र पढाना चाहता हूं । '

श्री राष्ट्रपति आचार्य कृपालानीजी बंगालका दौरा करके और वहांकी परिस्थिति देखकर कहते हैं—

' यद्यपि मैं पूर्ण रूपसे अहिंसावादी हूं, तथापि बंगालमें होनेवाले अत्याचारोंको देखकर मैं कहता हूं कि, अब हिंदुओंको उचित है कि, अब वे जो भी साधन उनके हाथमें मिल सकेंगे उनका उपयोग करके वे इन अत्याचारिओंका प्रतिकार करें । '

कांग्रेस कार्य-कारिणीका प्रस्ताव ता. २५ को नई देहलीमें स्वीकृत हुआ, उसका आशय—

" बंगालमें तथा अन्य स्थानोंमें होनेवाले इन पाशवी अत्याचारोंका केवल निषेध करकेही चुप रहना जनताको उचित नहीं है। उनको उचित है कि वे अत्याचारियोंसे निर्बलोंकी सुरक्षा करनेका पर्याप्त प्रबंध करें, यह कांग्रेस वर्किंग कमिटीका जनताके लिये आदेश है।

"पाशवी अत्याचारोंके ये क्रूर कर्म, अनेक वर्षोंसे मुस्लीम लीगने जो बुरा प्रचार किया उनके कारणही हो रहे हैं, ऐसा इस वर्किंग कमिटीका स्पष्ट मत है। गत कई महिनोंसे लीगके नेताओंने जो अमर्याद अत्याचारवादका प्रचार किया था, उसीका यह घोर परिपाक है। पूर्व बंगालकी जनतापर इतने बडे प्रमाणमें होनेवाले इन कष्टोंकी संपूर्ण जिम्मेवारी बंगाल प्रांतके लीगी सरकापरही सर्वथा है।

इन आदेशोंका भाव यही है कि जिनपर अत्याचार हो रहे हैं वह हिंदू जनताही है ! वह न डरे, न भागे। अपने स्थानपर स्थिर रहे । स्त्री हो या पुरुष हो, वह निडर होकर अत्याचारियोंका प्रतिकार करनेका साधन ढूंडे। जो भी साधन प्रतिकार करनेके लिये मिल सके उसका उपयोग करे। स्वसंरक्षण करे और अपने स्त्रियों और बालबच्चोंका संरक्षण करे, दुर्बलोंका संरक्षण करे । जो अकेले द्वारा हो सकेगा वह अकेला करे, पर जो संघ बनाकर किया जा सकता है, वह संघ बनाकर करे। पर कुछ भी न करता हुआ व्यर्थ वार्तालाप करनेमें अपनी शक्ति न गमावे । केवल शब्दोंसे कुछ भी नहीं बनेगा । प्रतिकार करते हुवा मृत्युके वश होना, डरकर भागनेकी अपेक्षा बहुतही अच्छा है ।

वेदमें अध्यात्म-विद्या

[लं०– श्री. पं. जगन्नाथशास्त्री, न्यायभूषण, विद्याभूषण, ज्योतिषी, ओ. टी. प्रिन्सिपल महिला संस्कृत कालेज लैया (पञ्जाब)]

(ऋ. मण्ड. ८, सू. १, मं. १ तः ३४ यावत् समग्रं सूक्तमाध्यात्मिकमेवास्ति ।)

मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च
शंसत ॥१॥ (अथर्व. २०।८५।१; सा. २४२)

अर्थ— (हे सखायः) हे समान स्थानपर बैठनेवाले मित्रजनो ! भगवद्भक्तो ! (इन्द्रम् इत्) परमैश्वर्ययुक्त परमात्माकीही (स्तोत) स्तुति करो (अन्यत्) परमात्माकी स्तुतिके अतिरिक्त (मा चित् वि शंसत) और किसीकी स्तुति मत करो, अर्थात् सारे जगत्को परमात्मासे अनन्य समझो, यदि अन्य किसीको मत समझो, सबको परमात्मा-का अंश समझो, भेदबुद्धि मत रखो । (मा रिषण्यत) इसलिये व्यर्थ खेदमें मत पडो क्योंकि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति,' परमात्मासे भिन्न वस्तु जाननेसे द्रष्टाको सर्वदा दूसरे से भय रहता है । (सुते) सोम अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति-में यद्वा ज्ञानसे परिष्कृत आत्मामें यद्वा यज्ञात्मक संसार-में (वृषणम्) कामनाओंको वर्षा करनेवाले (इन्द्रम् इत्) इन्द्रकीही (सचा) इकट्ठे मिलकर (उक्था) पर-मात्मविषयक काव्य अर्थात् स्तुतिको (मुहुः) वारंवार (शंसत) उच्चारण करो ॥१॥ यही भाव भगवद्गीता अध्या. ९, श्लो. २२,२३ में भरा हुआ है ।

" अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

अर्थ— जो पुरुष अर्थात् परमेश्वरभक्त मेरे अतिरिक्त अन्य किसीको कहीं नहीं देखते और सदा मेरा चिन्तन करते हुए मुझ परमेश्वरकी उपासना करते हैं, उन नित्य-युक्त पुरुषोंके योग और क्षेम दोनोंको मैं परमेश्वरही धारण करता हूं । इसी बातको पहिले गी० ८।१४ में कहा है ।

" अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥"
' योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।'
(भ. गी. ६।४७)
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥"
(भ. गी. ६।३१)

अनन्याश्चिन्तयन्तो माम् का अर्थ श्रीमधुसूदनजी ऐसा लिखते हैं " अपृथग्भूताः परं देवं नारायणमात्मत्वेन गताः सन्तश्चिन्तयन्ति माम् । तथा भेददर्शनं विद्यते येषां तेऽनन्याः सर्वाद्वैतदर्शिनः । अहमेव भगवान् वासुदेवः सर्वात्मा मद्व्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्तीति ज्ञात्वा प्रत्यगभिन्नं मां ध्यायन्तः ।" इसी अनन्यताका प्रतिपादन ईशोप० 'ईशा-वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यां जगत्।' यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजु-गुप्सते ॥६॥ यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥७॥ अथ तैत्तिरीयो० वल्ली ७ 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति' इन प्रमा-णोंसे ज्ञात होता है कि विश्वरूप ईश्वरमें अपने रूपका समा-वेश हुआ है । ऐसा जाननेवाले अनन्यभक्त अपने आपको ईश्वरसे अभिन्न अनुभव करनेवाले और अपने आपको ईश्वर-से सदा अभिन्न या अनन्य देखनेवाले, अपनी स्थितिको ईश्वरमें जाननेवाले, जीव-ब्रह्मकी एकताको सदा अपने मनमें रखनेवाले जो व्यवहार करते हैं, वह ईश्वरही ईश्वरके साथ कर रहा है इस भावनासे कर्म करनेवाले पुरुष अन-न्यभक्त कहलाते हैं । अतः अपने कर्मसे अनन्यभावसे विश्वरूप ईश्वरकी सेवा करना, पूजा करना, तथा सबमें आदर व्यक्त करनाही भक्ति है । "मैं परमात्मा (उपास्य) से

पृथक् नहीं हूं " ऐसा मानकर अनन्यभावसे सेवा करनी चाहिये।

परन्तु अन्यदेवताके भक्त श्रद्धासे युक्त हुए हुए अपने अपने देवकी पूजा करते हैं। वे भी यथार्थविधिसे रहित होकर मुझ वासुदेवकाही पूजन करते हैं। कई विद्वान् यह अर्थ भी करते हैं (अन्यदेवताभक्ताः) मुझसे देवता भिन्न है, और मैं देवतासे भिन्न हूं ऐसा मानकर उपासना करनेवाले भेदवादी (अन्यभक्त) होते हैं। इनकी भक्ति यथाविधि नहीं होती क्योंकि वे विश्वको ईश्वरका रूप नहीं देखते। उनके फलमें अवश्य त्रुटि रहती है। अपनेसे दूसरेको भिन्न माननेवाला सदा दूसरेसे भय खाता है अतः वह मुक्त नहीं होता। जैसे (छांदो. ७।२५।२) " येऽन्यथाऽतो विदुः अन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति " अर्थ= जो अपनेसे विभिन्न उपास्यको मानते हैं वे दूसरोंको अपना राजा मानते हैं अर्थात् वे दूसरेके दास होते हैं। इसलिये वे क्षीण होनेवाले लोकोंमें जाते हैं अर्थात् पुनः पुनः जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं। तैत्तिरीयो० वल्ली ७ 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। 'अथ तस्य भयं भवति' 'जब जो पुरुष इस आत्मामें भेद करता है उसे भय होता है' (अथ. बृह. १।४।१०)

" अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसौ, अन्योहमस्मीति, न स वेद यथा पशुः, एवं स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युः, एवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्ति, एकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति, किमु बहुषु, तस्मादेषां तन्न प्रियं, यदेतन्मनुष्या विद्युः।"

अर्थ— जो अन्यदेवताकी उपासना करता है, मुझसे देवता भिन्न है और मैं देवतासे भिन्न हूं, ऐसा मानता है वह देवताओंका पशु है क्योंकि वह ज्ञानशून्य है जिस तरह अनेक पशु मनुष्यके लिए भोग देते हैं। इस तरह अकेला अकेला वह मनुष्य देवोंको भोग चढाता रहता है। हमारे एक पशुके चुराए जानेपर कितना दुःख होता है, फिर अनेक पशु चुराए जानेपर तो बहुत दुःख होगा, वैसेही मनुष्यको ब्रह्मज्ञान हुआ तो वह बात देवोंके लिये प्रिय नहीं लगती, क्योंकि उससे देवोंके भोग कम होते हैं। अन्यभावकी भक्तिका कितना दुष्परिणाम है। इस मंत्रसे भेदभाव रखकर अन्यदेवोंकी उपासना करना कितना बुरा है। देवोंका पशु बननेसे स्वयं स्वराट् बनना कई गुना अच्छा है। जो भक्ति करनेके लिये देव और भक्तमें भेदभाव अवश्य चाहिये ऐसा मानते हैं, वे वेद तथा भगवद्गीताके तत्वको नहीं जानते। अन्यदेवता मानकर उसकी अन्यभावसे भक्ति करना, यह अविधिपूर्वक भक्ति है। इसलिए विश्वको विश्वरूप जानकर अनन्यभक्ति करनेवाला अनन्यभक्त श्रेष्ठ है। अनन्यभक्त स्वयं देवतारूप बने होते हैं, क्योंकि " देवो भूत्वा देवमर्चयेत् " विधि है और अन्यभक्त देवतासे विभक्त होकर दासत्वमें रहते है॥ १॥

अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम्।
विद्वेषणं संवननोभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम्॥
(ऋ. ८।१।२)

अर्थ- इस मंत्रका भी पूर्वमंत्र "इन्द्रमित्स्तोत"के साथ सम्बन्ध जानना चाहिये। वह परमात्मा कैसा है (अवक्रक्षिणम्) सबको अधीन रखकर भक्तको अपनी ओर आकर्षण करनेवाला (क्योंकि जीव ब्रह्मका अंश है, जो वस्तु जहांसे प्रकट होती है वह सूर्यमें अग्निकी तरह, जलमें जलकी तरह उसी ओर जाती है) इसलिये परमात्माको आकर्षक कहा है अथवा नीचे उतरकर अर्थात् संसारमें अवतार धारण करके भक्तोंकी रक्षाके लिये, दुष्टोंके संहारके लिये लडनेवालेको, जैसे 'अहं रुद्राय धनुरातनोमि।' ऋ० अथर्ववेदमें भी यही कहा है (यथा वृषभम्) यथा योग्य भक्तोंकी कामनाओंकी वर्षा करनेवालेको अथवा जैसे कैसे सब प्रकारके सुखोंकी वर्षा करनेवालेको (अजुरम्) जरारहित अर्थात् अजर (गां न चर्षणीसहम्) 'आदित्यो गौरुच्यते' इत्युक्तेः सूर्यकी तरह समस्त अन्धेरेरूपी दुष्टोंको विजय करनेवाले (विद्वेषणम्) विरुद्ध आचरण करनेवाले अर्थात् पापी पुरुषोंका द्वेषी (संवनना) भक्तोंसे अनन्यभक्तिसे सेवा करनेयोग्य (उभयं-करम्) पापीयोंका निग्रह और भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाले अर्थात् दण्ड और कृपा इन दोनों बातोंको यथायोग्य करनेवाले (मंहिष्ठं) दानियोंमें श्रेष्ठ अर्थात् दयालु, कृपालु तथा अति पूजनीय (उभयाविनम्) स्थावर और जंगमके रक्षक अथवा स्तोताओं और हविर्योमें

व्यापक अथवा दिव्य और पार्थिव दोनों प्रकारके ऐश्वर्य-वाले इन्द्रकी अर्थात् परमात्माकीही स्तुति करो। इति।

यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये।
अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेऽहा विश्वा च
वर्धनम् ॥ ३ ॥

अर्थ = (हे इन्द्र!) हे परमैश्वर्यवान् परमात्मन्! (इमे जनाः) ये सब विश्वरूपोपासक अनन्यभक्त (यत् चित् हि) जिस लिये (ऊतये) दुष्ट संसर्गसे अपनी रक्षाके लिये (त्वा) तुझे (नाना) श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चना, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन इत्यादि नौ प्रकारकी भक्तिके उपायोंसे (हवन्ते) आह्वान करते हैं अथवा स्तुति करते है। इसलिये (ते) तुम्हारी अर्थात् तुम्हारी प्राप्तिके लिये की हुई (इदम्) यह नौ प्रकारकी (ब्रह्म) स्तुति (विश्वा अहा च) सब दिनोंमें अर्थात् सर्वदा सर्व काल (अस्माकम्) हम दासोंको (वर्धनम्) ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिकी ओर बढानेवाली (भूतु) होवे ॥ ३ ॥

वि तर्तूर्यन्ते मघवन् विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम्।
उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये ॥४॥

अर्थ =(हे मघवन्!) हे परमात्मन्! 'मंहतेर्दानकर्मणः मघं भवतीत्युक्तेः हे दयालो! [विपश्चितः] पूर्ण अनुभवी अनन्योपासक कर्मठ जन तथा अर्यः = 'अर्यः स्वामि-वैश्ययोः', इत्युक्तेः इन्द्रियोंका स्वामी अर्थात् एकादशेन्द्रियों-को वशमें रखनेवाला संयमी पुरुष तथा (जनानां विपः) मनुष्योंमें मेधावी अथवा विवेकी पुरुष (वि तर्तूर्यन्ते) इस संसार-समुद्रसे विशेषतया पार हो जाते हैं। इसलिये तू स्वयं (पुरुरूपम्) हमारे लिये विश्वरूपको (उप क्रमस्व) प्राप्त कर अर्थात् हम अनन्योपासक पुरुष तुझे सब वस्तुओंमें व्यापक मानकर और आपकी व्यापकताको मनसे भी देखकर प्रत्येक प्राणी अप्राणीमात्रकी उपासना करें (वाजम्) हमारे अन्तःकरणमें इसी अनन्योपास-कतारूपी अन्नको अथवा बलको (आ भर) हमें प्राप्त कर और (ऊतये) हमारी रक्षाके लिये (नेदिष्ठं) अत्यन्त निकटही अर्थात् हम अनन्योपासकोंके मनके अन्दरही (उप क्रमस्व) अपने चरणकमलको धारण कर। अर्थात् सर्वदा तू हमारे समीप रह।

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय
शतामघ ॥ ५ ॥

अर्थ— (हे अद्रिवः!) हे पर्वतवत् कठोर जीवात्मन्! (हे वज्रिवः) [वज्रः कस्मात्, वर्जयतीति वज्रः] हे शुभ कर्मोंसे रोकनेवाले पुरुष! मैं परमात्माका अनन्यसेवक (त्वा) तुझे परमात्मसेवा–अनन्योपासनाके भावको (महे चन) बडेसे बडे (शुल्काय) मूल्यसे (न देयाम्) नहीं देना चाहता। अथवा यदि तू मुझे सांसारिक प्रेय पदार्थोंको देकर भक्तिमार्ग मुझसे लेना चाहे तो भी (सहस्राय) सहस्र-मुद्रा अथवा निष्कोंके बदले (न) नहीं देना चाहता और (अयुताय) दशसहस्रके लिये अर्थात् दशसहस्रमुद्रा लेकर भी (न) परमात्मभक्तिको तेरे वशसे तुझे नहीं देना चाहता अर्थात् मैं अनन्यो-पासनाको तेरे लुभानेपर भी परमात्मसेवन नहीं छोडना चाहता। (हे शतामघ) हे सैकडों प्रकारके धन रखने-वाले संसारी जीव! (शताय) मैं अपरिमित धनके लिये भी अर्थात् चाहे जितना धन मिल जाए, परन्तु मैं परमात्माकी अनन्योपासना—भक्तिभावको त्यागना नहीं चाहता। इसही बातका प्रतिपादन कठ व उप-अ० १ व० २, मं. २।)

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विवि-
नक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥२॥

अर्थ- (श्रेयः) भगवदुपासनाका मार्ग है (प्रेयः) धन, सम्पत्ति, स्त्रीपुत्रादि वस्तुको कहते हैं। संसारी मनुष्यके सामने श्रेय (भगवद्भक्तिमार्ग) और (प्रेय) सांसारिकोपभोगका मार्ग यह दोनों प्राप्त होते है (धीरः) विवेकी पुरुष (तौ) उन दोनों श्रेय और प्रेय मार्गको (सम्परीत्य) गुरु, शास्त्र और अनुभवद्वारा विचार कर आन्तरिक दृष्टिसे (विविनक्ति) पृथक् पृथक् करता है। (धीरः) परमात्मोपासनामें धैर्य रखनेवाला ज्ञानी पुरुष (अभिप्रेयसः श्रेयः) प्रेयसे भिन्न श्रेयमार्गकोही ग्रहण करता है अर्थात् सर्वत्र परमात्माकी सत्ता देखनेवाला पुरुष परमात्मभक्ति रूप श्रेयमार्गकोही अपने प्रयोजन मोक्षार्थ आश्रय करता है। क्योंकि यह श्रेयोमार्गही

परम पुरुषार्थका साधन है (मन्दः) मन्द पुरुष अर्थात् संसारी जीव (योगक्षेमात्) योगक्षेमसे [अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिको योग कहते हैं और प्राप्तवस्तुकी रक्षाको क्षेम कहते हैं] (प्रेयः) प्रेय अर्थात् ऐश्वर्य स्त्रीपुत्रादिक पदार्थों को वरता है। अथापि च (कठ. उप. १।१)

'तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते'

अर्थ- (तयोः श्रेयः) भगवन्मार्ग (प्रेयः) सांसारिक उपभोग, इन दोनोंमेंसे (श्रेय आददानस्य) श्रेयमार्गके ग्रहण करनेवालेका (साधु भवति) कल्याण होता है। (यः) जो पुरुष (उ) निश्चयसे (प्रेयः) सांसारिक उपभोगोंको (वृणीते) ग्रहण करता है, वह (अर्थात्) मोक्षसाधक पुरुषार्थसे (हीयते) पतित हो जाता है, अर्थात् वह मुक्त नहीं होता, जन्म-मरणके बंधनमें लगा रहता है।

मैं मुमुक्षु इस परमात्मोपासनाको क्यों नहीं छोडता, सांसारिक वासनाको क्यों छोडता हूं यह बात छठे मंत्रमें कही है।

वस्याँ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः।
माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे ॥ ६ ॥

अर्थ=(हे इन्द्र !) हे परमैश्वर्यवान् परमात्मन्! तू (मे) मुझ मुमुक्षुके (पितुः) उत्पादक पितासे भी (वस्यान्) (वसवो यद्विवसते सर्वम्। "...इन्द्रो वसुभिर्वासवः।' निरु.१२।४१) तीनों स्थानोंमें होकर तीनों स्थानोंमें जगत्को ढांपते हैं। 'इन्द्रो वसुभिर्वासवः' अतः अधिक बसानेवाला (असि) है (उत) और (अभुञ्जतः) सांसारिक पदार्थोंका उपभोग न करनेवाले अथवा मेरी पालना न करनेवाले (मे) मेरे (भ्रातुः) शरीरके साथ उत्पन्न होनेवाले (भ्रातुः) सब प्रकारसे भरण-पोषण करनेवाले अर्थात् मनसे भी (वस्यान्) तू बडा है। (मे) मेरी (माता) माता (च) और तुम (समा-समौ) संसारमें समानरूप होकर (छदयथः) मेरे दोषों अर्थात् पापोंको ढांपते हो (हे वसो !) हे अपने निकट वास करानेवाले परमात्मन्! यद्वा हे व्यापक परमात्मन् ! (वसुत्वनाय) उत्तम वास देनेके लिये और (राधसे) ज्ञानरूपी धन देनेके लिये (समा) समान हो। अतः माता, पिता और भ्रातासे भी अधिक सुख देनेवाले हो ॥ ६ ॥

जैसे सर्वदा भगवत्स्तुति की जाती है " त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देव देव ॥ १ ॥ जैसे अथर्ववेदमें " स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा " (अथर्व. २।१।३)

अर्थ=(सः) वह परमात्माही (नः) हमारा (पिता) उत्पादक और पालक पिता है। वह परमात्माही हमारा (बन्धुः) बन्धु है वह परमात्माही (विश्वा भुवनानि) सारे भुवनोंको तथा (धामानि) लोकोंको जानता है। (यः) जो परमात्मा (देवानाम्) अग्निवाय्वादि देवोंके (नामधः) नाम रखनेवाला (एक एव) एक विश्वरूपही है (संप्रश्नम्) इसके सम्बन्धमें सम्यक्तया सारे जीव जिज्ञासुरूपसे प्रश्नपूर्वक अर्थात् वह कैसे है ? कहां है ? कैसे मिलेगा इत्यादि पूछनेयोग्य (तम्) उस परमात्माको (सर्वा भुवना) सारे लोक (यन्ति) प्राप्त होते है और प्रलयकालमें उसमें समा जाते हैं " यथा वा

" पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः॥
(अथर्व. ११।७।१६)

अर्थ= (उच्छिष्टः) परमात्मा (जनितुः) संसारमें उत्पन्न करनेवाले सांसारिक पिताका (पिता) पिता है। वह परमात्मा (असोः) प्राणका (पौत्रः) पुंनामक नरकसे रक्षा करनेवाला है (सः) वह परमात्मा (विश्वस्य ईशानः) सारे संसारका स्वामी होता हुआ (क्षियति) सब स्थानमें वास करता है (सः) वह परमात्मा (वृषा) कृपाकी वर्षा करनेवाला (भूम्याम्) पृथिवीपर (अतिघ्न्यः) सबको अतिक्रमण करके सबसे ऊंचा होकर (क्षियति) विराजता है अर्थात् व्यापक होकर वास करता है।

पिता माता सदमिन्मानुषाणाम् ॥
(ऋ. ६।१।५)

अर्थ = हे परमात्मन् ! तू (मानुषाणाम्) मनुष्यमात्रका (सदमित्) सदैव (पिता) पिता और (माता) मातारूप है ॥

केयथ केदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः।
अलर्षि युध्म खजकृत्पुरंदर प्र गायत्रा अगासिषुः ॥ ७ ॥

अर्थ = जिज्ञासु पुरुष परमात्माको पानेके लिये उनसे बोलता है, (हे पुरन्दर) हे परमात्मन्! पुर नाम देहका है इस देहको नाश करनेवाला। अर्थात् देहाभिमान दूर करनेसेही परमात्मदर्शन होते है, अतः परमात्माका नाम पुरंदर है पुरन्दरका नाम परमात्मा महाभारतान्तर्गत विष्णुसहस्रनामके अन्दर भी आया है जैसे ' वासुदेवो बृहद्भानुरादिदेवः पुरन्दरः ,, (क इयथ) तू पहिले अर्थात् सृष्टयुत्पत्तिसे पहिले कहां था, और (क-इत् असि) अब तू कहां है अर्थात् न तेरा दर्शन भूतकालमें हुआ, और नहीं वर्तमानकालमें हो रहा है। तो हम कैसे जाने कि संसारका स्वामी कोई परमात्मा है। इस बातको वेदमें अन्यत्र देखिये जैसे "नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम ॥ (ऋ ८।१००।३) नेम भार्गवऋषिके मनमें यह बात आई कि (इन्द्रः) परमात्मा (न अस्ति) वर्तमानकालमें अब तो दृष्टिगोचर नहीं होता इस प्रकार (नेमः इत्व) एक नेम ऋषिने (आह) कहा (कः) किस पुरुषने (ईम्) इस ईश्वरको एवंविध अर्थात् सबके स्वामीके (ददर्श) देखा था अर्थात् भूतकालमें भी परमात्मा प्रतीत नहीं होता अतः हम लोग (कं अभिष्टवाम) किसकी स्तुति करें। इसलिये कोई ईश्वर नहीं है केवल लोगोंका प्रवाद मात्र है कि ईश्वर है न कि वस्तुतः वह कोई है ऐसा सन्देह ऋषिके मनमें हुआ था ॥ और भी " यं स्मा पृच्छन्ति कुह सः" (ऋ. २।१२।५) गृत्समद ऋषि कहता है (यं स्म पृच्छन्ति) जिज्ञासु लोग परमात्माको संसारमें प्रत्यक्षरूपसे न देखते हुए महात्मा लोगोंसे पूछते हैं (सः) संसारका कर्ता वह परमात्मा (कुह) कहां है क्योंकि वह दृष्टिगोचर नहीं होता (ते मनः) तेरा मन (पुरुत्रा चिद् हि) बहुतोंमेंही प्राप्त होता है अर्थात् संसारकी प्रायः जनता तुम्हें मानती है कि परमात्मा जगन्नियन्ता अवश्य है। (हे पुरन्दर !) हे परमात्मन् ! (अलर्षि) अब प्रत्यक्ष होकर आजा अर्थात् मुझे प्रत्यक्षरूपसे दर्शन दे (दाधर्ती इत्यादौ अलर्षीति निपात्यते) (हे युध्म !) हे भक्तोंकी रक्षाके लिये युद्धमें कुशल परमात्मन् क्योंकि !

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ। अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ (ऋ. १०।१२५।६)

अर्थ = मैं परमात्मा ब्रह्मद्वेषी हिंसक राक्षसको मारनेके लिये धनुषको फैलाता हूं। मैं अपने भक्तके लिये (समदम्) युद्ध करता हूं। संसारमें धनुष धारण करके दुष्टोंके साथ युद्ध करता हुआ भी पृथिवी और आकाशमें व्याप्त होकर वास करता हूं ॥

जिस परमात्मासे स्थावर जंगम दोनों भय खावे, जिसके भयसे अपना अपना कार्य करते हैं वह परमात्मा त्रिकालाबाध्य है जैसे—

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते ॥ (ऋ. २।१२।१३)

अर्थ = जिस परमात्माके होने या न होनेमें जिज्ञासा की जाती है इस परमात्माको पृथिवी और आकाश झुकते हैं और पर्वत इसके बलसे भय खाते हैं। (खजकृत्) हे संसार-समुद्रके मंथन करनेवाले परमात्मन् ! यद्वा केवल निमिषार्धमात्रमें संसारको हिला देनेवाले परमात्मन् ! यद्वा ख = आकाश और ज = जगत्के करनेवाले परमात्मन् यद्वा ख = शून्य और प्रलय और ज = उत्पन्न करनेवाले परमात्मन् ! (गायत्राः) गायत्री मंत्रका जपन करनेवाले यद्वा छन्दमें गान करके जिज्ञासु स्तोता (प्र-अगासिषुः) अनन्य भक्तिसे आपका गान कर रहे हैं।

प्रास्मै गायत्रमर्चत वावातुर्यः पुरन्दरः।
याभिः काण्वस्योप बर्हिरासदं यासद्वज्री भिनत्पुरः ॥ ८ ॥

अर्थ = हे मुमुक्षु पुरुषो ! तुम (अस्मै) इस परमात्माके लिये अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिके लिये (गायत्रम्) गायत्री मंत्रवाले गानको (प्रार्चत) गायत्रीमंत्र-द्वारा उस परमात्माका जप तथा पूजन करो। (यः) जो

(पुरन्दरः) परमात्मा (वावातुः) सारे संसारका रक्षक है। (याभिः) जिन स्तुतियोंसे अर्थात् गायत्री-मंत्रयुक्त जिन स्तुतियोंको सुनकर परमात्मा (काण्वस्य) परमात्मामें अनन्यभक्तिवाले सद्बुद्धिवाले ज्ञानी पुरुषके (बर्हिः आसदम्) मनरूपी यज्ञस्थलीपर (उपयासद्) प्राप्त होता है (वज्री) जो दुष्ट पुरुषोंको दण्ड देनेके लिये वज्र धारण करनेवाला परमात्मा (पुरः) दुष्टोंके देहोंको (भिनत्) नाश कर देता है ॥ ८ ॥

ये ते सन्ति दशग्विनः शतिनो ये सहस्रिणः।
अश्वासो ये ते वृषणो रघुद्रुवस्तेभिर्नस्तूयमा गहि॥९

अर्थ = (ये) जो पुरुष (दशग्विनः) पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियोंके पीछे चलनेवाले (सन्ति) विद्यमान हैं अर्थात् जो केवल इन्द्रियानुचर हैं आत्मज्ञानकी ओर ध्यान नहीं करते केवल बहिर्मुख रहते हैं। जैसे—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्,,

अर्थ- परमात्माने (खानि) इन्द्रियाँ (पराञ्चि) बाहर विषयोंकी ओर जानेवाली बनाई हैं इसलिये (स्वयम्भूः) यह आत्मा (व्यतृणत्) रोके अर्थात् इन इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर अन्तर्मुख करे, क्योंकि इनकी बहिर्मुखताही आत्मलाभमें प्रतिबन्धक है। (तस्मात्) इसलिये (पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्) बाहर देखती हैं, अन्तरात्माको नहीं देखती, अर्थात् यह इन्द्रियां अनात्मभूत विषयोंको प्राप्त होती हैं अन्तरात्माको नहीं प्राप्त होतीं। जैसे—

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु।
इन्द्र तानि त आ वृणे ॥ (ऋ. ३।३७।९)

अर्थ— (शतक्रतो !) हे परमात्मन् (ते) तेरे (पञ्चसु जनेषु) पांच प्रकारके जनोंमें (या इन्द्रियाणि) जो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय हैं (इन्द्र !) हे परमात्मन्! (तानि) उन इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे रोक कर (ते) तेरी प्राप्तिके लिये अर्थात् तेरे दर्शनके लिये (आ वृणे) अन्दर ले जाता हूं ताकि आपका दर्शन हो सके। यथा—

'पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। (कठोप. ४।२)।

अर्थ- (बालाः) अविवेकी विषयासक्त अल्पबुद्धि पुरुष (पराचः) बाह्यकी ओरवाली (कामान्) कामनाओंको अर्थात् विषयोपभोग्य अविद्यात्मक काम्य कर्मोंको (अनुयन्ति) प्राप्त होते हैं (ते) वे संसारी जीव (विततस्य मृत्योः) विस्तृत मृत्युकी (पाशम्) पाशको अर्थात् जन्ममरणरूप बन्धनको (यन्ति) प्राप्त होते हैं। और भी—

'दश राजानः समिता अयज्यवः। (ऋ.७।८३।७)

अर्थ- हे जीवात्मन्! (दश) यह इन्द्रियाँ (राजानः) अपने विषयकी ओर प्रकाश करती हुई (अयज्यवः) परमात्माके पूजनसे विमुख (सम्+इताः) प्राप्त हुई हैं। और (ये) जो पुरुष (शतिनः) उन इन्द्रियोंके सैकड़ों बन्धनोंवाले और (ये) जो पुरुष (सहस्रिणः) उन इन्द्रियोंके हजारों बन्धनोंमें लगे हुए हैं। ये सैकड़ों और हजारों नाडियोंके बन्धनवाले शरीरमें आसक्त हैं। जैसे-

अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति। (प्रश्नोप. ३।६)

अर्थ- १००-१०० = १०००० एवं सहस्रों नाडियोंसे बन्धे हुए देहमें जो पुरुष आसक्त रहते हैं, वे सर्वदा परमात्म-चिन्तनसे विमुख रहते हैं। जैसे—

"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका" जैसे (कठोप. ६।१६)

शतं वा यस्य दश साकमाद्य एकस्य श्रुष्टौ यद्ध चोदमाविथ। (ऋ. १.१३।९)

अर्थ = हे जीवात्मन्! (यस्य) जिस (एकस्य) सब जीवोंमें मुक्ताधिकारी मुख्य श्रेष्ठ एक तेरे लिये (दश) इन्द्रियें तथा (शतम्) उनके सैकड़ों विषय तथा (दश शत) सहस्रों पदार्थ (श्रुष्टौ) सुख प्राप्तिके वास्ते हैं। क्योंकि (आद्यः) मुक्ति प्राप्तिके लिये पहिला धर्मसाधन यह मनुष्य शरीर है जैसे श्रीमद्भागवतमें भी कहा है 'आद्यं नृदेहं खलु धर्मसाधनम्' इसलिये तू (चोदम्) वेद-प्रेरणाको (आविथ) अपने अन्दर

सुरक्षित रख, तू परमात्मासे विमुख मत हो। (ये) जो पुरुष (अश्वासः) बहुत भक्षण करनेवाले हैं अर्थात् केवल उदरंभरी हैं। जिनमें परोपकारकी वृत्ति अत्यन्त नहीं नहीं है। 'अश्व' कस्मात् महाशनो भवति (निरु. २८।२) (अश् भोजने क्र्याः पर-सेट् अश्धातोः क्वन् प्रत्ययः उणा० १।१४९) अर्थात् जो पुरुष इन्द्रियाँरूपी घोड़ोंपर चढ कर विषयरूपी पदार्थोंकी ओर (रघुद्रुवः) शीघ्र भागनेवाले हैं अतएव अधिक भक्षण करते हैं, संसारमें वह अश्वरूप हैं।

और (ये) जो पुरुष (वृषणः) गर्भसिञ्चनमें निपुण हैं अर्थात् सदा गृहस्थीमें फंसे हुए हैं जैसे पद्मपुराणमें भी कहा है 'सन्तानोत्पादने दक्षाः अदक्षाः मुक्तिसाधने' जो केवल सन्तानके उत्पन्न करनेमें अर्थात् स्त्रीमें रमण करनेमें निपुण हैं मुक्तिकी साधनामें निपुण नहीं हैं। (तेभिः) हे परमात्मन्! उन जीवोंपर अपनी कृपादृष्टि कर कि वे सन्मार्गपर प्राप्त हों क्योंकि यदि आपकी कृपा न हो तो कोई भी पुरुष आपके चरणोंमें अर्थात् मुक्ति नहीं पा सकता, जैसे-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥

(कठोप. १।२।२२)

अर्थ- यह आत्मा (प्रवचनेन) वेदशास्त्रोंके पठन मात्रसे पानेयोग्य नहीं है (न मेधया) और नहीं धारणायुक्त बुद्धिसे प्राप्त होता है (न बहुना श्रुतेन) और बहुत शास्त्रोंके श्रवणमात्रसे भी नहीं प्राप्त होता (एषः) यह परमात्मा (यम् एव वृणुते) जिस पुरुषकी यह इच्छा करता है अर्थात् जिसपर यह कृपा करता है (तेन लभ्यः) उससे पानेयोग्य होता है। (तस्य एष आत्मा स्वां तनूं विवृणुते) यह आत्मा उसको अपने शरीरको अर्थात् आत्माको प्रकाशता है। 'मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्। यत्कृपा तमहं वंदे परमानन्द माधवम्', अन्धा लखै बधिरो सुने पंगु गिरि चढ जाए—, इत्यादि। हे परमात्मन्! आपकी कृपा अर्थात् 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥' सदाचारी बने हुए ऐसे उन पुरुषोंके साथ (नः) हम सब मुमुक्षु पुरुषोंको (तूयम्) शीघ्र (आ गहि) सब ओरसे हटाकर अपने पास प्राप्त कर ॥ ९ ॥

आ त्वद्य, सबर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम्।
इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरंकृतम् ॥ १०

अर्थ- हे परमात्मन्! (अद्य) आज मैं (सबर्दुघाम्) सारा दूध देनेवाली यद्वा सब कामनाओंको पूरा करनेवाली (सुदुघाम्) सुखसे दोही जानेवाली (उरुधाराम्) बडी धारावाली (अन्याम्) विलक्षण (धेनुम्) धेनुरूप, सब कामनाओंके पूरण करनेवाले, अच्छी अनन्यभक्तिसे आसानीसे मुक्तिरूपी दूधके देनेवाले (उरुधाराम्) ऋग्वेदादिके मंत्रोंरूपी बहुत धाराओंवाले, सबसे विलक्षण (गायत्रवेपसम्) स्तुति गानेवाले यद्वा गायत्रीमंत्रके गानमय कर्मवाले (अरंकृतम्) ज्योतिःस्वरूपसे सजे हुए यद्वा सारे जगत्के कर्ता (इषम्) सबसे इच्छा करनेयोग्य (इन्द्रम्) परमात्माको (तु) शीघ्रही (आ हुवे) संसाररूपी समुद्रसे अपने उद्धारके लिये बुलाता हूं ॥ १० ॥

यत्तुदत्सूर एतशं वङ्कू वातस्य पर्णिना।
वहत्कुत्समार्जुनेयं शतक्रतुः त्सरद्गन्धर्वमस्तृतम् ॥ ११ ॥

अर्थ-(यत्) जब (सूरः) ज्ञानी पुरुषने (एतशम्) मनरूपी घोडेको (तुदत्) पीडित किया अर्थात् मारा। जब (सूरः) जितेन्द्रिय बुद्धिमान् पुरुष (वातस्य) वायुकी तरह सदा गतिवाले मनकी (पर्णिना) तेजगतिवाली (वंकू) संसारकी टेढी वस्तुओंमें टेढे रूपसे पहुंचनेवाली (कुत्सम्) कुत्सितगतिको यद्वा कठोरताको यद्वा परमार्थिक क्रांतियोंके वधपनको (कुत्स इत्येतत्कृन्ततेः ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः। अत्राऽप्यस्यैव भवति। निरु. ३।११) मनके कालेपनको दूर करके (आर्जुनेयम्) श्वेतभाव अर्थात् शुद्धपनको (वहत्) धारण करता है। तब (शतक्रतुः) इस जीवात्माने (अस्तृतम्) किसी सांसारीक जीवसे न परास्त होनेवाले अर्थात् शान्त न होनेवाले (गन्धर्वम्) इन्द्रियोंको अपने अधीन रखनेवाले मनको (त्सरत्) परास्त किया अर्थात् अपने पास न आने दिया ॥ ११ ॥

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः।
संधाता संधिं मघवा पुरूवसुरिष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥ १२ ॥

अर्थ= मनुष्य मनको वशमें करके जिसको प्राप्त होता है उसका नाम क्या है और वह क्या करता है इस जिज्ञासाके होनेपर वेद कहता है।

हे जीवात्मन् ! (यः) जो परमात्मा (अभिश्रिषः) चिपकानेवाली वस्तुके अर्थात् गोंद, सरेष, कीलादिके (ऋते) विना (चित्) भी और (जत्रुभ्यः) गर्दनकी हंसलीकी हड्डियोंमें (आतृदः) सुराख करनेके (ऋते) विना भी (पुरा) उत्पत्ति कालमेंही (संधिं) संधिको अर्थात् जोडोंको (संधाता) जोडनेवाला है और (विन्हुतम्) कटकर अलग हुए हुए को भी (पुनः) फिर (इष्कर्ता) ठीक करनेवाला है अर्थात् जिसकी रक्षा-करता है विनासामग्री भी उसे सुरक्षित रखता है।

मृत्योरन्तिकं नीत एव। तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थात् ॥ (ऋ. १०।१६१।२)

इत्यादि वचन ऋग्वेदमें कहे हैं वहही (पुरूवसुः) उत्तम ज्ञानमय धन देनेवाला यद्वा अनेकों ऐश्वर्योंवाला यद्वा समस्त लोकोंमें वास करनेवाला (मघवा) परमेश्वर है॥१३॥

मा भूम निष्ट्याइवेन्द्र त्वदरणाइव। वनानि न प्रजहितान्यद्रिवो दुरोषासो अमन्महि ॥१३॥

अर्थ- जीव परमात्मासे प्रार्थना करता है। हे (इन्द्र !) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन्! हम सब (त्वत्) तेरी कृपासे कभी (निष्ट्याः इव) आपसे विमुख नीच जीवोंकी तरह और (अरणा इव) आपके पूजन तथा नामके स्मरण करनेमें रमण न करनेवाले अर्थात् परमात्मामें प्रेम न रखनेवाले जीवोंकी तरह (मा भूम) मत होवें। (प्रजहितानि) अच्छे अच्छे जीवोंसे छोडे हुए अर्थात् सिंह-व्याघ्ररूपी विषयोंमें आसक्त अतएव तुमसे छोडे हुए (वनानि) भयंकर वनोंकी तरह (मा भूम) हम मत होवें। (हे अद्रिवः) हे आदरणीय परमात्मन्! यद्वा हे सर्वज्ञानसम्पन्न परमात्मन्! (अस्ति तमः अज्ञान-मिस्त्वद्रिः यद्वा न दीर्यते मोहादिना इत्यद्रिः तद्वन् यथा। निरू. ४।४। अद्रिवन् ! अद्रिरादणात्यनेनोऽपि वाऽतेः स्यात्,) (दुरोषासः) इन्द्रियोंरूपी शत्रुओंसे सन्ताप देनेयोग्य न होते हुए अर्थात् इन्द्रियोंके वशीभूत न होकर अपने इसी मनुष्यदेहमें सुखसे रहते हुए (अमन्महि) सदा तेरी स्तुति करें और तेराही स्मरण करें ॥ १३ ॥

अमन्महीदनाशवोऽनुग्रासश्च वृत्रहन्। सकृत्सु ते महता शूरराधसानु स्तोमं मुदीमहि ॥ १४ ॥

अर्थ= (हे वृत्रहन् !) हे पापनाशक परमात्मन्! (अनाशवः) शीघ्रता न करनेवाले आपके स्मरणमें विलम्ब करनेवाले परन्तु (अनुग्रासः) उग्रतासे रहित अर्थात् भयंकर न बनकर जीवमात्रसे स्नेह रखते हुए भी हम जीव (सकृत्) एकवार (इत्) ही (अमन्महि इत्) आपहीकी स्तुति करें और आपहीका स्मरण करें। (हे शूर!) शवतेर्गति कर्मणः।नि ४।१३हे सर्वत्र गतिशील! हे सर्वव्यापक परमात्मन् (ते) तेरी (महता राधसा) बडी आराधनासे (स्तोमम्) तेरी स्तुति करनेके साथ साथ जैसे हो वैसेही (अनु मुदीमहि) हम अति आनन्दकी तृप्तिको पावें। जिससे हम ब्रह्मानन्दमें मग्न रहें ॥१४॥

यदि स्तोमं मम श्रवदस्माकमिन्द्रमिन्दवः। तिरः पवित्रं ससृवांस आशवो मन्दन्तु तुग्र्यावृधः ॥ १५ ॥

अर्थ= जीवात्मा अपने मनको कहता है हे मन! (यदि) अगर परमात्मा (मम) मुझ मुमुक्षु जीवात्माकी (स्तोमम्) की हुई स्तुतिको (श्रवत्) सुन लेवे। कि (अस्माकम्) हम स्तोताओंको (तिरः) संसार-समुद्रसे पार करनेवाले [तिरस्तीर्णं भवति। निरु. ३।२०] (ससृवांसः) संसारसे शीघ्र दूर गमन करनेवाले अर्थात् परमात्माकी ओर शीघ्र ले जानेवाले (आशवः) शीघ्र गति करनेवाले (तुग्र्यावृधः) [तुग्रः त्वरित गतिशीलः परमात्मा तस्मिन् वर्तते इति तुग्र्यःभक्तःतेषां वृधःवर्धकाः] भगवद्भक्तों अथवा भगवद्भक्तिको बढानेवाले (इन्दवः) यज्ञ अर्थात् सत्संगति, सज्ज्ञान, भगवद्भक्ति अथवा ज्ञानादि यज्ञादि, (इन्दु सब्दस्य विष्णुः इन्दुः निघं. ३।१७ यज्ञ नामसु पाठः) उस (पवित्रम्) जगत्के पावक अग्निस्वरूप अर्थात् ज्योतिःस्वरूप [पवित्रं, पुनातेः-अग्निः पवित्रमुच्यते। निरु. ५।६] (इन्द्रम्) परमात्माको (मन्दन्तु) आनन्दित करें। परमात्मा हमारे यज्ञादि शुभ कर्मोंसे प्रसन्न होकर हमें अपने चरण कमलोंमें रक्खे ॥ १५ ॥

आ त्वऽद्य सधस्तुतिं वावातुः सख्युरा गहि ।
उपस्तुतिर्मघोनां प्र त्वावत्वधा ते वश्मि सुष्टुतिम्
॥ १६ ॥

अर्थ- हे परमात्मन् ! (वावातुः) सारे जगत्के रक्षा करनेवाला तू (सख्युः) सखारूपसे भक्ति करनेवाले अपने दासकी (तु) तो (अद्य) आज (सधस्तुतिम्) सबसे मिलकर अर्थात् सबके साथ की हुई स्तुतिको (आ+आगहि) सब प्रकारसे ग्रहण कर । (मघोनाम्) धनियोंकी, धनादिके दानद्वारा आपको प्रसन्न करनेवाले धनियोंकी (उपस्तुतिः) की हुई तेरी स्तुति (त्वा) आपको (प्र-अवतु) प्राप्त होती है । [अवधातु रक्षण-गति-कान्त्यादि अर्थोंमें होती है ।] (अध) और या अब मैं आकिञ्चनदास भी (ते) तुझ परमात्माकी (सुष्टुतिम्) सम्यक् प्रकारसे स्तुतिको (वश्मि) करना चाहता हूं । अर्थात् अर्जुनादि धनिक सखाओंकी तो स्तुति सुनते रहे हो मैं यह कामना करता हूं, कि आप मुझ आकिञ्चनदासकी भी स्तुतिको सुनें ॥१६॥

सोता हि सोममद्रिभिरेमेनमप्सु धावत ।
गव्या वस्त्रेव वासयन्त इन्नरो निर्धुक्षन्व-
क्षणाभ्यः ॥ १७ ॥

अर्थ— हे जीवात्माओ ! तुम (अद्रिभिः) न फिसलनेवाली मानसिक वृत्तियोंसे अर्थात् पर्वतकी तरह स्थिर शुभ वृत्तियोंसे (हि) निश्चयसे (सोमम्) परमात्माको (सोत) अपने अन्दर प्रकट करो अर्थात् परमात्माके वास्तविक रसको संस्कृत करो । (ईम्) पादपूर्तिके लिये निपात है (एनम्) इस आत्माको (अप्सु) सुकर्मरूपी जलोंमें (आ+धावत) अच्छी तरह स्नान कराओ अर्थात् इस आत्माको मनोमयी वृत्तियोंसे निकाल कर ज्ञानमय जलसे धोवो । जिससे यह आत्मा शुद्ध होकर भगवच्चरणोंमें प्राप्त होवे । (वस्त्रा) मनको आच्छादित करनेवाली (गव्या) इन्द्रियों और उनकी वृत्तियोंको (वासयन्त इव) संसारमेंही आच्छादित करते हुए अर्थात् सब इन्द्रियोंकी वृत्तियोंका परित्याग करते हुएही (नरः) ज्ञानी पुरुष (इत्) ही (वक्षणाभ्यः) नदीरूपी नाड़ियोंको रुधिररूपी जलोंसे (निर्धुक्षन्) इस आत्माको पृथक् दोह लेते हैं अर्थात् ज्ञानी पुरुषोंका सम्बन्ध रूपरसादि किसी विषयके साथ नहीं रहता ॥१७॥

अध ज्मो अध वा दिवो बृहतो रोचनादधि ।
अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो
पृण ॥ १८ ॥

अर्थ- हे परमात्मन् ! (अध) अब हम भक्तोंकी रक्षाके लिये (ज्मः जमन्ति गच्छन्ति अस्यामिति ज्मा पृथिवी) पृथिवीसे प्रकट होकर (अध वा) या (दिवः) द्युलोकसे प्रकट होकर अथवा (बृहतः) बड़े विस्तृत (रोचनात् अधि) नक्षत्रोंसे प्रकाशमान अन्तरिक्ष लोकसे प्रकट होकर (अया) इस (तन्वा) आपको अर्पण किये हुए हमारे शरीरसे निकली हुई विस्तृत (मम) हमारी (गिरा) स्तुतिसे (वर्धस्व) वृद्धिको प्राप्त हो अर्थात् प्रकट होकर दर्शन दे । (हे सुक्रतो !) हे सुन्दर कर्मोंवाले परमात्मन् ! तू (जाता) इस संसारमें मनुष्यजन्मको प्राप्त हुए हुए हम दासोंको (पृण) अपनी दयादृष्टिसे पूर्ण कर ॥ १८ ॥

इन्द्राय सु मदिन्तमं सोमं सोता वरेण्यम् ।
शक्र एणं पीपयद्विश्वया धिया हिन्वानं न वाजयुम्
॥ १९ ॥

अर्थ— हे जीवात्माओ ! तुम (इन्द्राय) परमात्माको अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिके लिये (वरेण्यम्) सबसे श्रेष्ठ (मदिन्तमम्) अत्यन्त आनन्द बढानेवाले (सोमम्) मनको [चन्द्रमा मनसो जात इत्युक्तेः] (सोत) विषयोंसे निचोडो अर्थात् निष्पीड लो, मनको ऐसा परिष्कृत करो कि मन निर्विषय हो जावे । (शक्रः) सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्मा (विश्वया धिया) परिपूर्ण बुद्धिसे [बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे इत्युक्तेः] (हिन्वानम्) वैदिक मार्गपर गमन करते हुए अथवा वेदानुकूल आरंभ किये कर्मोंके कारण आनन्दित हुए (एनम्) इस मनको (वाजयुम्) विषयोंकी ओर वेगवाला (न पीपयत्) न जाने देने अर्थात् विषयोंकी ओर मन न जावे प्रत्युत परमात्माके चरणोंकी ओर जावे ॥ १९ ॥

मा त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नहं गिरा ।
भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत्
॥ २० ॥

अर्थ = हे इन्द्र ! हे परमात्मन् ! (अहम्) आपके चरणकमलोंमें प्राप्तिकी इच्छा दास मैंने (भूर्णिम्) घूमनेवाले (मृगं न) सिंहकी तरह (भूर्णिम्) भक्तोंको पालन करनेवाले (त्वा) तुझ परमात्माको (सवनेषु) ज्ञानादि यज्ञोंमें अथवा यज्ञादिके स्थानोंमें [सवनानि स्थानानि। निरु. ५।२५] (मा चुक्रुधम्) कभी कुपित नहीं किया। और मैं (सदा) हरसमय (सोमस्य) सोमरूप मनके (गल्दया) गालनसे अर्थात् बहा देनेवाली अर्थात् द्रवीभूत करनेवाली (गिरा) वाणीसे (याचन्) आपके चरणकमलोंकी प्राप्तिको याचना कर रहा हूं, क्योंकि याचनासे मुझे कुछ न कुछ मिल जावेगा क्योंकि यह किंवदन्ती जगत्में प्रसिद्ध है। (कः) ऐसा कौन है जो (ईशानम्) अपने प्रभुसे (न याचिषत्) याचना नहीं करता? अतः प्रत्येक पुरुषको परमात्मासे सद्गतिकी प्राप्तिके लिये याचना करनी चाहिये ॥ २० ॥

मदेनेषितं मदमुग्रमुग्रेण शवसा।
विश्वेषां तरुतारं मदच्युतं मदे हि ष्मा ददाति नः ॥ २१ ॥

अर्थ = हे जीवात्माओ ! वह इन्द्र अर्थात् वह परमात्मा (मदेन) ब्रह्मानन्दमें मस्त रहनेवाले योगीजनसे (इषितम्) इच्छित (उग्रेण) सर्वोत्कृष्ट (शवसा) ब्रह्मानन्दके बलसे (उग्रम्) सबसे उत्कृष्ट (मदच्युतम्) सांसारिक मदसे दूर ले जानेवाले (विश्वेषाम्) सब भक्तोंको (तरुतारम्) संसाररूपी समुद्रसे तारनेवाले [तरुतारं तारयितारं। निरु. १०।२४] (मदे) ब्रह्मानन्दके प्राप्त होनेपर (मदम्) पूर्ण हर्षस्वरूप ब्रह्मानन्द पदको (नः) हम दासोंको (हि) निश्चयसे (ददाति स्म) देता है, इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ २१ ॥

शेवारे वार्या पुरु देवो मर्ताय दाशुषे।
स सुन्वते च स्तुवते च रासते विश्वगूर्तो अरिष्टुतः ॥२२॥

अर्थ = हे जीवात्माओ ! (देवः) प्रकाशमान् ज्योतिःस्वरूप (सः) वह परमात्मा (शेवारे) सब ओरसे सुखके देनेवाले ज्ञानयज्ञमें (दाशुषे) दूसरोंको ज्ञानात्मक सम्पत्तिके देनेवाले (मर्ताय) मनुष्यको (वार्या) लेनेयोग्य (पुरु) बडे उत्तम पदको (रासते) प्रदान करता है। (च) और (विश्वगूर्तः) सब भक्तोंसे स्तुति किया हुआ, (अरिष्टुतः) [अरिभिः ईश्वरैः द्वन्द्वसहिष्णुभिः समर्थैः जीवैः ईश्वरोऽप्यरिः एतस्मादेव। यदन्यदेवत्या अग्नाहुतयो ह्रियन्ते। निरु. ५।८] सुखदुःख, रागद्वेष, हानिलाभादि द्वन्द्वोंके सहन करनेवाले समर्थ जीवोंसे स्तुति किया हुआ (सः) वह परमात्मा (सुन्वते) सोमयज्ञमें अर्थात् मानसिक यज्ञमें सांसारिक विषयोंसे मनको निष्पीडन करनेवाले अर्थात् सांसारिक विषयोंसे मनको रोकनेवाले मनुष्यको (च) और (स्तुवते) भगवत्स्तुति करनेवाले जीवात्माको (वार्या पुरु) वरनेयोग्य सर्वोत्कृष्ट बडे उत्तम पदको देता है ॥ २२ ॥

एन्द्र याहि मत्स्व चित्रेण देव राधसा।
सरो न प्रास्युदरं सपीतिभिरा सोमेभिरुरु स्फिरम् ॥ २३ ॥

अर्थ = (हे इन्द्र !) हे सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! (आ याहि) हमारे पास आ अर्थात् आप हमें उद्धार करनेके लिये दर्शन दें। (हे देव !) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (चित्रेण राधसा) हमारी भिन्न भिन्न प्रकारवाली अर्थात् "श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्" इन नौ प्रकारवाली आराधनासे अथवा संसिद्धिसे अथवा नानाविध ज्ञानात्मक धनसे (मत्स्व) तू हमपर आनन्दित हो अर्थात् तू हमारी अनन्यभक्तिसे प्रसन्न हो। (सपीतिभिः) हमसे पान की हुई अर्थात् अन्तर्मुख की हुई (सोमेभिः) मानसिक शान्तिमयी वृत्तियोंसे (उरु स्फिरम्) बहुत फैले हुए अर्थात् सांसारिक वृत्तियोंकी ओर मुख फैलाए हुए (उदरम्) हमारे उदर अर्थात् अन्तःकरणको (सोमेभिः सरः न) अमृतमय जलोंसे तालाबकी तरह (आ प्रासि) चारों ओर अच्छी रीतिसे भर देता है अर्थात् तू परमात्माही भक्तकी भक्तिसे और अपनी दयासे उसे पूरि पूर्ण कर देता है ॥ २३ ॥

आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये।
ब्रह्मयुजो हरयः इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥ २४ ॥

अर्थ = (हे इन्द्र !) हे जीवात्मन् ! (हिरण्यये रथे) सुवर्णमय रथमें अर्थात् स्वर्णकी तरह सुन्दर बाहरसे लुभानेवाले चमकीले शरीरमें 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु'' इस कथनसे रथका नाम शरीर है। सत्यस्वरूप जीवात्मा इस सुनहरी रथसे आच्छादित है, अतः प्रत्येक जीवात्मा इस शरीरकी सुन्दरतापर मस्त होकर आत्मज्ञानकी ओर नहीं झुकता, जिससे पुनर्जन्मके चक्रमें फंसा रहता है, जैसे वा. य. ४०।१७ में कहा है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

अर्थ = सत्यस्वरूप आत्माका (मुखम्) स्वरूप (हिरण्मयेन पात्रेण) सुवर्णमय पात्रसे (अपिहितम्) ढपा हुआ है अर्थात् इस जगत्में सुवर्ण अर्थात् ऐश्वर्यही प्रायः विषयभोगका हेतु है और विषयभोगसाधक सुवर्णादि आत्मज्ञानका बाधक है, अतः परम्परासे सुवर्णादि ऐश्वर्यही आत्मज्ञानके किवाडरूप है, उस सुवर्णसे विरक्त होना लाभदायक है। अतः यही सुवर्णमय देहकोही सर्वोत्तम समझकर इसकी उपासनामें लगा हुआ पुरुष आत्मज्ञानको नहीं देखता। अतः इस मंत्रमें भी देहको सुवर्णमय बताकर मनुष्यको उससे दूर रहनेका उपाय बताया है। चमकीले देहमें (शतं सहस्रम्) सैकडों और हजारों विषय वृत्तिवाले (हरयः) इन्द्रियरूप विषयोंकी ओर ले जानेवाले घोडे (युक्ताः) लगे हुए हैं। वही इन्द्रियाँ यदि (ब्रह्मयुजः) ब्रह्मसे अर्थात् सर्वव्यापक परमात्मासे जुडी हुई (केशिनः) 'केशीदं ज्योतिरुच्यते । (ऋ. १०।१३६।१) ज्योतिःस्वरूप परं ब्रह्मको विषय करती हुई (त्वा) तुझ जीवात्माको (सोमपीतये) अमृतके पीनेके लिये अर्थात् अमर पदकी प्राप्तिके लिये (आ+आवहन्तु) चारों ओर सांसारिक विषयोंसे हटाकर मुक्तिके स्थानपर प्राप्त करें ॥ २४ ॥

आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेप्या ।
शितिपृष्ठा वहतां मध्वो अन्धसो विवक्षणस्य पीतये ॥२५॥

अर्थ = हे जीवात्मन् ! (हरी) संसारसमुद्रसे हरकर परमात्माके चरणोंमें ले आनेवाले उत्साह और पराक्रम दोनोंही जो कि (मयूरशेप्या) मोरकी चोटीकी तरह सबको प्रतीत होनेवाले और (शितिपृष्ठा) परमात्मज्ञानकी सूक्ष्मताको स्पर्श करते हुए दोनों (हिरण्यये रथे) इस सुनहरी अर्थात् मनको हरण करनेवाले ऊपरसे मनोहर देहमें (विवक्षणस्य वक्षस्) इच्छित अर्थात् प्रशंसनीय (मध्वः) मधुरस्वरूप परमात्माके (अन्धसः) आनन्दमय अमृतरसके (पीतये) पान करनेके लिये अर्थात् मुक्तिको प्राप्त करनेके लिये (त्वा) तुझ जीवात्माको (आवहताम्) ले जावें ॥ २५ ॥

पिबा त्व१स्य गिर्वणः सुतस्य पूर्वपा इव ।
परिष्कृतस्य रसिन इयमासुतिश्चारुर्मदाय पत्यते ॥२६॥

अर्थ = (हे गिर्वणः !) हे प्रशंसनीय जीवात्मन् ! क्योंकि जब तू परमात्माकी अनन्यभक्तिमें मस्त हो जाता है तब तू प्रशंसाके योग्य होता है अतः कहा है हे प्रशंसनीय जीवात्मन् ! तू (तु) तो (अस्य) इस (सुतस्य) भक्तिभावसे अर्थात् अनन्यभक्तिसे निचोडे हुए भगवदानन्दरसको (पूर्वपा इव) सबसे प्रथम पीनेवालेके समान अर्थात् पहिले मैं भगवच्चरणामृत पान कर्तां हूं ऐसे श्रद्धालु पुरुषके समान (पिब) पान कर। क्योंकि (परिष्कृतस्य) सुन्दर संस्कारों द्वारा सुसम्पन्न किये हुए (रसिनः) परमात्माके आनन्दमय रसको अनुभव करनेवाले भक्तजनका (आसुतिः) रस अर्थात् ब्रह्मानन्दात्मक रसका पान (चारुः) सुन्दर है क्योंकि (इयम्) यह ब्रह्मानन्दरसका पानही (मदाय) हर्षके लिये अर्थात् शाश्वत हर्षके लिये (पत्यते) समर्थ है। (पत्यतिः ऐश्वकर्मा) 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।'

अर्थ = वह ब्रह्म रसरूप है। यह जीवात्मा उस आनन्दमय रसात्मक ब्रह्मको पाकर आनन्दित होता है ॥२६॥

य एको अस्ति दंसना महाँ उग्रो अभि व्रतैः ।
परिगमत्स शिप्री न स योषदा गमद्धवं न वर्जति ॥ २७ ॥

अर्थ- हे जीवात्मन् ! (यः) जो परमात्मा (एकः) एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, विश्वरूप होकर एकही है जो कि (दंसना) अपनी शक्तिसेही (महान्) सबसे बडा है और (व्रतैः) अपने नियमोंसे (उग्रः) सब पापियोंके

लिये भयानक है अथवा सबसे श्रेष्ठ है। (सः) वह परमात्मा (शिप्री) दुष्टोंको अपनी डाढमें रखनेवाला यद्वा हमारा शिरोरक्षक (अभामत) हमारे अन्तःकरणमें आवे अर्थात् हमें उस परमात्माका साक्षात्कार हो। (वः) वह परमात्मा (न योषत्) हमसे कभी पृथक् न हो और वह परमात्मा (हवम्) हमारे आवाहन करनेपर (आ गमत्) आवें, अर्थात् साक्षात् दर्शन देवें। और वह परमात्मा (न परिवर्जति) हमें परित्याग न करें ॥ २७ ॥

त्वं पुरं चरिष्ण्वं वधैः शुष्णस्य सं पिणक्।
त्वं भा अनु चरो अध द्विता यदीन्द्र हव्यो भुवः॥२८

अर्थ— (इन्द्र !) हे मुमुक्षु जीवात्मन् ! (त्वम्) तू (शुष्णस्य = वृत्रस्य) पुण्यकर्मोंके शोषक पापकी आसुरी-वृत्तिकी ओर (चरिष्ण्वम्) प्रवृत्तिकी इच्छावाले (पुरम्) पुर अर्थात् देहको (वधैः) इन्द्रियोंके हननसे यद्वा निष्काम कर्मरूपी अस्त्रोंसे यद्वा यमनियमप्राणायामादि योगमय शस्त्रोंसे (पिणक्) चूर्ण कर दे अर्थात् पीस डाल। (त्वम्) तू (भाः) ज्ञानज्योतिकी ओर (अनुचरः) गमन कर, (यत्) जिस लिये तू (द्विता) दोनों स्थानोंमें अर्थात् इस लोकमें और परलोकमें सुखी हुआ हुआ जैसे हो वैसेही (द्विताः क्रियाविशेषण है) (हव्यः) सबसे ग्रहण करनेयोग्य अर्थात् सबका आदरपात्र (भुवः) बन। मनुष्य-का मन प्रायः विषयोंकी ओर झुकता है, अतः चरिष्ण्वं पद दिया है, जैसे मनुस्मृतिमें भी कहा है॥ २८ ॥

' प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ' (मनुस्मृति)

मम त्वा सूर उदिते मम मध्यन्दिने दिवः।
मम प्रपित्वे अपिशर्वरे वसवा स्तोमासो
अवृत्सत ॥ २९ ॥

अर्थ— हे परमात्मन् ! (सूरे उदिते) सूर्यके उदय-कालमें (मम) मुझ शरणागत भक्तकी (स्तोमासः) स्तुतिएँ और प्रार्थनाएं (त्वा—त्वाम्) तुझ परमात्माको (आ+अवृत्सत) चारों ओर वरती हैं अर्थात् तेरे नामका गान करती हैं और (दिवः मध्यंदिने) दिनको मध्याह्नके समयमें (मम) मुझ भक्तकी (स्तोमासः) संध्यो-पासनादि प्रार्थनाएं (त्वा) तुझ परमात्माको (आ+अवृत्सत) वरते हैं अर्थात् तेरी महिमाका वर्णन करते हैं। (वसो !) हे सबके निवासस्थान परमात्मन् ! (शर्वरे प्रपित्वे) रात्रिके प्राप्त होनेपर [प्रपित्वे अभीके। निघ. ३।२९] (मम) मेरी (स्तोमासः) स्तुतिएँ (अपि) भी (त्वा) तुझ परमात्माको (आ+अवृत्सत) वरें। यहां-पर पं० श्रीपादसातवलेकरजीने ' प्रपित्वे ' का अर्थ सायंकाल और (शर्वरे) का अर्थ रात्रि किया, इसलिये उन्होंने यह भाव प्रकट किया है (दिनमें चार वार आरा-धना) इस सूक्तके २९ वें मंत्रमें सूर्योदय, मध्याह्न, सायंकाल और रात्रिके समय ऐसी चार वार प्रभुकी आराधना करनेकी बात कही है। यहां मंत्रपाठसे इन्द्रकी स्तुति करनाही लिखा है। इति ॥

इसी मंत्रकी पुष्टिमें ऋ.४।२५।७-९, तथा ऋ.८।२७-२९ मंत्रोंको देखें ॥ २९ ॥

स्तुहि स्तुहीदेते घा ते मंहिष्ठासो मघोनाम्।
निन्दिताश्वः प्रपथी परमज्या मघस्य मेध्यातिथे
॥३०॥

अर्थ— (हे मेध्यातिथे ! मेध्यश्चासौ अतिथिः, मेध्यातिथिः, तत्सम्बद्धौ हे मेध्यातिथे !) क्योंकि जीवात्मा ब्रह्मांश होनेसे सदा पवित्र है, अजन्मा होनेसे तिथिरहित है, अतः कहा है हे— जीवात्मन् ! (निन्दिताश्वः निन्दिता अश्वाः स्वविषयमाशुगन्तारः अश्वाः अश्वरूपाणि इन्द्रियाणि येन तथाविधः त्वम्) जिसने सब इन्द्रियोंको निन्दित कर दिया हो अर्थात् इन्द्रियोंकी आज्ञा न माननेवाला जितेन्द्रिय हुआ हुआ यद्वा जिसका श्वः (भविष्य) निन्दित नहीं है अर्थात् जिसका भविष्य अच्छा है और (प्रपथी) अत्यन्त उत्कृष्ट मार्गपर चलता हुआ तू (मघस्य मघं कर्माणि षष्ठी) सर्वैश्वर्यसम्पन्न इन्द्र अर्थात् परमात्माकी (स्तुहि स्तुहि इत्) स्तुति कर, स्तुतिही कर अर्थात् केवल परमात्माकीही आराधना कर, अन्य किसी संसारी जीवकी आराधना न कर। यह मंत्र (मा चिदन्यद्वि शंसत् [८।१।१] मंत्रकी पुष्टि करता है, क्योंकि (ते एते घ) परमात्माकी आरा-धना करनेवाले वह यह अनन्यभक्तही (मघोनां मंहिष्ठासः) धनवानोंमें भी धनी है अथवा धनियोंके भी पूज्य होते हैं और (परमज्याः) वह सर्वश्रेष्ठ ज्या धनुष्के गुणकी तरह परम मनोहर भगवद्भक्तिके गुणवाले होते हैं। अतः परमात्माकी स्तुति और आराधना करनी चाहिये ॥ ३० ॥

आ यदश्वान्वनन्वतः श्रद्धयाऽहं रथे रुहम्। उत वामस्य वसुनश्चिकेतति यो अस्ति याद्वः पशुः३१

अर्थ– हे परमात्मन् ! (यद्) जब (अहं) मैं मुमुक्षु पुरुष (वनन्वतः) परमात्मभक्तिरूपी धनसे भरपूर (अश्वान्) अपनी वागादि इन्द्रियोंको (रथे) शरीररूपी रथमें जोडकर (श्रद्धया) परम श्रद्धाभक्तिसे (आरुहम्) आरूढ हो गया। अर्थात् सब इन्द्रियोंको वश करके परमात्मभक्तिरूपी नौकापर अपने इस शरीरको स्थापित कर दिया, (उत) क्योंकि (यः) जो भक्त इस परमात्मभक्तिके (वामस्य) सुन्दर अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ (वसुनः) सबके वास करानेवाले और सबके वासस्थानको अर्थात् परमात्माको (चिकेतति) जानता है, वही (याद्वः पशुः अस्ति) सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ और यथार्थ द्रष्टा है, क्योंकि वह सब स्थानपर और सब वस्तुओंमें परमात्माके स्वरूपको देखता है ॥३१॥

य ऋज्रा मह्यं मामहे सह त्वचा हिरण्यया। एष विश्वान्यभ्यस्तु सौभगाऽसंगस्य स्वनद्रथः३२

अर्थ– हे मुमुक्षु जनो ! सर्वव्यापक परमात्माने (मह्यम्) मुझ दासकी (ऋज्रा) सरलता अथवा सीधेसे साधे भक्तियोगमार्गद्वारा (हिरण्यया त्वचा सह) स्वर्णकी तरह प्रकाशमान त्वचाके साथ अर्थात् बाहरसे सुन्दर चमडेसे आच्छादित (स्वनद्रथः) गूंजता हुआ रथ अर्थात् देह (मामहे) दिया है, (एषः) यह (आसंगस्य = आ +असंगस्य) चारों ओर संगवाला अर्थात् सबमें व्यापक होकर रहनेवाले यद्वा सब ओरसे किसीके साथ संग न रखनेवाला सर्वव्यापक परमात्माका (असंगोऽयं पुरुषः) परमात्माका नाम असंग भी है, अतः उस परमात्माका (स्वनद्रथः) गूंजता हुआ अर्थात् अपने आपको संकेतों द्वारा प्रकट करता हुआ रथ अर्थात् विराट् देह है। (विश्वानि) सब (सौभगा = सौभगानि) सुन्दर सुन्दर वस्तुएं अर्थात् विभूतिएं (आसंगस्य) सर्वव्यापक परमात्माकी (अभि अस्तु) सम्मुख आती हैं। "पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादि वेदवचनोंसे मुझ भक्तका देह उस परमात्माकी विभूति ही है ॥ ३१ ॥

अध प्लायोगिरति दासदन्यानासंगो अग्ने दशभिः सहस्रैः। अधोक्षणो दश मह्यं रुशन्तो नळा इव सरसो निरतिष्ठन् ॥ ३३ ॥

अर्थ– मुमुक्षु पुरुष प्रार्थना करता है– (हे अग्ने !) हे परमात्मन् ! (प्लायोगिः = प्रायोगिः रलयोर्डलयोः सावर्ण्यम्) सांसारिक प्रयोगों विषयवासनाओंका अपत्य अर्थात् सन्तान बना हुआ सांसारिक प्रयोगोंका पुतला बना हुआ (आसंगः) लम्पट पुरुष (दशभिः सहस्रैः अन्यान् अति) और सब संसारी जीवोंसे दश हजारों गुण अर्थात् असंख्य गुणा (दासति) अपने आपको इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रदान करता है अर्थात् सर्व साधारण जीवोंसे भी हजारोंगुणा अधिक विषयी होता है। हे (अग्ने) हे परमात्मन् ! (अध) अब मैं देखता हूं कि (रुशन्तः) अपने अपने विषयोंमें प्रज्वलित होती हुई (दश उक्षणः) दस बैलरूपी इन्द्रियाँ जो कि सिञ्चनकर्ममें बढी हुई हैं वह मुझे भी (सरसः नडा इव) तालाबसे ऊपर खडे हुए कमलनालोंके समान (निर्+अतिष्ठन्) मेरे सामने भी खडी हो गई हैं अर्थात् वह भी मेरे साथ चलने लगीं, मैं जबतक इनको वशमें न करूं, तबतक आपके चरणकमलोंको नहीं पा सकूंगा ॥ ३३ ॥

अन्वस्य स्थूरं ददृशे पुरस्तादनस्थ ऊरुरवरम्बमाणः। शश्वती नार्यभिचक्ष्याह सुभद्रमर्य भोजनं बिभर्षि ॥ ३४ ॥

अर्थ— मुमुक्षु पुरुष कहता है– हे भद्र पुरुषो ! (अस्य) इस संसारी आसक्त पुरुषके (पुरस्तात्) सामने (अनस्थः) गुठलीसे केवल रसस्वरूप अर्थात् सत्त्वगुण (अवरम्बमाणः = अवलम्बमानः) सामने लटकता हुआ अर्थात् सम्मुख खडा हुआ हुआ और (ऊरुः) बडा विस्तृत रजोगुण और (स्थूलः) स्थूल घना तमोगुण (अवरम्बमाणः) सामने लटकता हुआ अर्थात् सामने उपस्थित हुए हुए तीनों गुणोंका समुदाय (अनु ददृशे) नजर आता है अर्थात् यह संसाराऽसंगी पुरुष तीनों गुणोंमें फंसा हुआ नजर आता है। (शश्वती नारी) नित्य रहनेवाली प्रकृतिरूपी नारी (अभिचक्ष्य) पुरुषको इस अवस्थामें देखकर (आह) कहती है– (हे अर्य !) हे स्वामिन् (सुभद्रं भोजनं बिभर्षि) तू बहुत सुन्दर भोगसाधनको धारण करता है ॥३४॥ इन्हीं मंत्रोंसे प्रकृति–पुरुष–वाद (सांख्यशास्त्र) की झलक प्रतीत होती है।

सूचना— इस सूक्तके अन्तिम दोनों ३३, ३४ मंत्र अध्यात्मपक्षमें पुनः विचारने योग्य हैं।

मन और आकाशकी उपासना

(ले०— श्री० पं० रामनाथ वेदालंकार)

[क] मन और आकाश ब्रह्म कैसे?

छान्दोग्य उपनिषद्का एक प्रकरण इस प्रकार प्रारम्भ होता है— " मनो ब्रह्मेत्युपासीत, इत्यध्यात्मम् । अथाधिदैवतम्, आकाशो ब्रह्मेति । " इसका सीधासा अर्थ यह है कि मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टिसे मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करे, आधिदैविक दृष्टिसे आकाशकी ब्रह्मरूपसे उपासना करे । उपनिषद्में इस प्रकारकी प्रतीकोपासना बहुत पाई जाती है । कहीं मनको ब्रह्म कहा गया है, कहीं आकाशको; कहीं अन्नको, कहीं प्राणको, कहीं आदित्यको । परन्तु एक जिज्ञासु उपासक इस प्रकारके भिन्न-भिन्न प्रतिपादनोंको देखकर संशयमें पड जाता है कि वह किसे ब्रह्म समझे ? और एक सच्चिदानन्दस्वरूप, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी ब्रह्मका अन्वेषक मनुष्य इन विभिन्न प्रतिपादनोंमें नास्तिकताकी गन्ध पा सकता है; क्योंकि जिस सर्वज्ञ, सृष्टिकर्ता, जगन्नियन्ता ब्रह्मकी संसार उपासना करता है, वह मन या आकाश तो नहीं हो सकता । और बहुतसी वस्तुओंको ब्रह्म मान लेनेपर एकेश्वरवादके सिद्धान्तकी हानि होती है । तो फिर उपनिषद्के इन प्रकरणोंका क्या अभिप्राय समझा जाय !

यह उपनिषद्की प्रतीकोपासना है । ब्रह्मका अभिप्राय यहाँ परमेश्वरसे नहीं है । मन और आकाश ब्रह्म हैं, इसका इतनाही आशय है कि ये ब्रह्मके प्रतीक हैं, अपने अपने क्षेत्रमें ये ब्रह्म हैं । जो जिस क्षेत्रमें सर्वश्रेष्ठ और महान् है, वह उस क्षेत्रका ब्रह्म कहा जा सकता है । ब्रह्मका अनुवाद यदि हम ' राजा ' कर लें तो और भी स्पष्ट हो जाता है । ये सब मन, आकाश, आदित्य, अन्न, प्राण, आदि पदार्थ अपने अपने क्षेत्रके राजा हैं, और इनका चक्रवर्ती राजा जिसके अधीन कि ये सब हैं, वह है ' परब्रह्म ।' ब्रह्मका धात्वर्थ भी है बृहत् या महान् । इस प्रकार क्योंकि शरीरके अन्दर इन्द्रियोंमें मन सर्व-श्रेष्ठ है, वह सब इन्द्रियोंका राजा है, इसलिये आध्यात्मिक दृष्टिसे मन ब्रह्म है और बाहर क्योंकि आकाश सब भूतोंका आश्रय है, आकाशमें सब वस्तुमें ओतप्रोत हैं, इसलिये आधिदैविक दृष्टिसे आकाश ब्रह्म है। साधकको कहा गया है कि 'तू इन मन और आकाशकी उपासना कर। इनकी अद्भुत शक्तिको देखकर तू उस परब्रह्मकी शक्तिकी थोडीसी झाँकी पा सकता है और शनैः शनैः अपने आपको इस योग्य बना सकता है कि तू उस परब्रह्मकी अनुभूति कर सके ।'

'हाँ, तो हे मनुष्य ! उपनिषदोंके रूपमें अध्यात्मविद्याके दिव्य रहस्योंको खोलनेवाले तत्त्वदर्शी 'ऋषियोंकी ओरसे मैं तुझे यह सन्देश सुनाता हूं कि यदि तू अभी आत्मा-परमात्माकी गम्भीर रहस्यमई अनुभूतियाँ नहीं कर पाता है तो तू मनकी ही उपासना कर लिया कर, आकाशकी ही उपासना कर लिया कर; बल्कि यहाँ तक कहता है कि जैसे कोई ब्रह्मकी उपासना करता है वैसे तू इनकी उपासना कर लिया कर, या और धुँधली भाषामें कहूँ तो, इन्हें ब्रह्म समझकर तू इनकी उपासना कर लिया कर —" मनो ब्रह्मेत्युपासीत, आकाशो ब्रह्मेति !" तो देख, इन आध्यात्मिक और आधिदैविक ब्रह्मोंका रहस्य जो ऋषियोंने कहा है वह मैं तुझे बताता हूँ ।'

[ख] मन और आकाशके चार-चार पाद ।

ब्रह्मका चतुष्पाद् होना प्रसिद्ध है । जैसे परब्रह्मके चार पाद होते हैं वैसेही इस मनोब्रह्म और आकाशब्रह्मके भी चार चार पाद कल्पित किये गये हैं ।

अध्यात्मब्रह्म	अधिदैवतब्रह्म
मनः	आकाशः
१ वाक् पादः——	अग्निः पादः
२ प्राणः पादः——	वायुः पादः
३ चक्षुः पादः——	आदित्यः पादः
४ श्रोत्रं पादः——	दिशः पादः

वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र ये चार शरीरकी मुख्य शक्तियाँ मनके चार पाद हैं । ये चारों मनरूपी सूत्रसे जुडे हुए हैं,

मनही इनका नियामक है। ये चारों शरीरकी सब इन्द्रियोंके प्रतिनिधि हैं। मनके शासनसेही प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने व्यापारमें तत्पर होती है। जब आँखरूपको देखती है तो मनकी प्रेरणासे, जब कान शब्दको सुनते हैं तो मनकी प्रेरणासे। इसीलिये कई बार मनुष्य किसी चिन्तनमें व्यस्त होता है या इसका मन कहीं अन्यत्र गया हुआ होता है, तब उसकी आँखें आकर्षकसे आकर्षक रूपको भी नहीं देख पातीं, उसके कान बडे भारी भेरीनादको भी नहीं सुन पाते। उससे कोई प्रश्न करता है कि अभी-अभी यह बैन्ड किस प्रयोजनसे बज रहा था तो वह हैरान होकर कहता है, मुझे तो यह भी नहीं मालूम कि बैन्ड बज भी रहा था या नहीं, मेरा ध्यान तो कहीं और था। श्रोत्र होनेपर भी वह इतने ऊँचे शब्दको नहीं सुन सका। इसका कारण था कि उसका मन सुननेके लिये तैयार नहीं था, उसके मनरूपी राजाने कानोंको सुननेकी आज्ञा नहीं दी थी। इस प्रकार वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र इन चारोंका अधिष्ठातृत्व मन करता है, इसलिये ये चारों मनके पाद हैं। त्वचाको छोड दें तो शरीरकी येही चार ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनका नियंत्रण करनेवाले मनरूपी ब्रह्मकी महिमा अपार है। वेदमन्त्रोंने भी मनकी महिमाका गान किया है। जैसे एक उत्तम सारथी लगामोंसे घोडोंको काबूमें रखता है वैसेही यह इन्द्रियरूपी घोडोंको काबूमें रखता है। इसका वेग अपार है, इसकी क्रिया-शक्ति अद्भुत है, भूत, वर्तमान, भविष्यत् तीनों कालोंमें इसका प्रवेश है। इस शरीर-नगरीको सजाने-सँवारनेवाला यही है। शरीरको जिस वस्तुकी आवश्यकता होती है, उसीके लिये यह इन्द्रियोंको प्रेरित करता है। इसलिये हे साधक! यदि अभी तू उस अतिसूक्ष्म अनुभूतितक नहीं पहुँच सकता है जिसमें कि आत्मा या परमात्मा इस शरीर-नगरीके सम्राट् होते हैं तो तू इस महामहिमाशाली मनकोही इस शरीरका ब्रह्म समझ ले। यह भी कोई कम अद्भुत वस्तु नहीं है। जिस कलको घुमा देनेसे शरीरकी सब क्रियाएँ सुनियन्त्रित रूपसे होने लगती हैं वह कल मनही है। इस मनकी तू उपासना कर।

और देख, शरीरमें जैसे मन ब्रह्म है वैसे बाहरकी ब्रह्माण्डनगरीमें आकाश ब्रह्म है। इस आकाशके चार पाद हैं अग्नि, वायु, आदित्य, दिशाएँ। इन चार पादोंमें समस्त ब्रह्माण्ड समा जाता है। अग्नि पृथ्वीलोकका प्रतिनिधि है, वायु अन्तरिक्षका, आदित्य द्युलोकका और दिशायें प्रतिनि-धित्व करती हैं ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दाँये-बायें सब ओर फैले हुए इस असीम विस्तारका। ये चारों पाद आकाशमें ओतप्रोत रहते हैं और इस प्रकार यह समस्त चराचर जगत् आकाशमें ओतप्रोत है तो यह आकाश कैसा महिमामय है। इसलिये, हे साधक यदि इस ब्रह्माण्डके आदि कारण चतुष्पात् परब्रह्मतक तू अभी नहीं पहुँच सकता, तो आधिदैविक दृष्टिसे इस चतुष्पाद् आकाश-कीही तू उपासना कर।

[ग] दोनोंके पादोंमें सम्बन्ध

परन्तु इस मनोब्रह्म और आकाशब्रह्मकी उपासना ऐसी स्वतंत्र नहीं है कि इनमें परस्पर कोई सम्बन्ध न हो। ये दोनों ब्रह्म और इनके चार-चार पाद आपसमें घनिष्ठता-के साथ जुडे हुए हैं। मनोब्रह्मका पहला पाद है वाक् और आकाशब्रह्मका प्रथम पाद है अग्नि। ये दोनों इतने निकट हैं कि एक दृष्टिसे दोनोंको एक भी कहा जा सकता है। बाहरका जो अग्नि देवता है वही शरीरका वाक् है। यह अग्निही वाणी बनकर शरीरमें प्रविष्ट हुआ हुआ है। इसी प्रकार दोनोंके दूसरे दूसरे पाद प्राण और वायु, तीसरे–तीसरे पाद चक्षु और आदित्य तथा चौथे चौथे पाद श्रोत्र और दिशायें भी परस्पर सम्बद्ध हैं। बाहरका जो वायुदेवता है वही शरीरमें प्राण बनकर प्रविष्ट हुआ है। आदित्य चक्षु बनकर और श्रोत्र दिशायें बनकर शरीरमें आ विराजी हैं। ऐतरेय उपनिषद्में इसी रहस्यको इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशद्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्। (ऐ. उ. १)

इस प्रकार हम देखते हैं कि आकाशब्रह्म और मनो-ब्रह्मके पादोंमें परस्पर कितना निकट सम्बन्ध है।

[घ] इस उपासनाका महान् फल

तो यदि उपासक इस सम्बन्धको ध्यानमें रखते हुए

इसकी उपासना करेगा तो उसे महान् फलकी प्राप्ति हो सकती है। उसे यह लक्ष्य अपने सामने रखना होगा कि अपने मनको मैंने आकाशके समान विशाल बनाना है, इसमेंसे स्वार्थके अंशको निकालकर उसे ब्रह्माण्डका मन बना देना है। और मनके प्रत्येक पादको वह आकाशके प्रत्येक पादके समान बनानेकी प्रेरणा ग्रहण करेगा। वह अपने अन्दरसे परिमितता और स्वार्थकी भावनाको हटाकर असीमता और परार्थकी उच्च भावनाको जागृत करेगा। वह कहेगा, ओ मेरी वाक्! तेरा सच्चा रूप तो अग्नि है, तू असत्य, स्वार्थ आदिको छोडकर अग्निके समान तेजस्विनी बन जा। और इस प्रकार वह अग्निकी ज्योतिसे भासमान हो जायगा, यश, कीर्ति और ब्रह्मवर्चससे युक्त हो जायगा—

सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च, भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद।

उसकी वाणी अग्निवत् तेजस्विनी हो जायगी, इतनी तेजस्विनी कि उससे तेजकी किरणें निकल कर औरोंको भी तपाने लगेंगी औरोंको भी तेजस्वी बनानेकी क्षमता रखेंगी। और इस प्रकार वह यशस्वी, वर्चस्वी बन जायगा, क्योंकि संसार उसकी महिमाका गान करने लगेगा कि इसकी वाणीमें अपूर्व सामर्थ्य है, इसकी वाणी अग्निके समान प्रकाशवती है।

वह कहेगा, ओ मेरे प्राण! तू उस विश्वात्मा प्राणका, सूत्रात्मा वायुकाही छोटा रूप है। थोडी देरके लिये भी यदि वह वायु न रहे तो संसार छटपटा कर मर जाय। वैसेही तू मेरा संबन्ध जगत्के इस प्राणवायुसे करा दे। मैं जगत्के लिये जिऊँ, अपने लिये नहीं। मैं ऐसा बन जाऊँ कि मेरा प्राण निकलनेसे जगत् यह अनुभव करे कि मानो इसकाही प्राण निकला जा रहा है। मैं अपने प्राणको जगत्के प्राणसे एक कर लूँ। इस प्रकार वह वायुकी ज्योतिसे भासमान हो जायगा, वह तद्विषयक यश, कीर्ति और ब्रह्मवर्चससे युक्त हो जायगा—

स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च, भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद।

जैसे वायु शीतल, मन्द झकोरोंके साथ बहता हुआ संसारको जीवन देता है, लोकका उपकार करता है, वैसेही वह भी अपने प्राणोंको लोकोपकारमें लगायेगा, अपने प्राणोंको वायुके समान बना लेगा।

वह कहेगा, ओ मेरी आँख! तू तो आदित्य है। जैसे आदित्य ब्रह्माण्डका प्रकाशक है वैसेही इस शरीरमें तू प्रकाशक है। देख, ऐसा न हो कि कहीं तू अपने प्रकाशक रूपको भूलकर अन्धकारमें ले जानेका साधन बन जाय। जगत्की आँख सूर्य है। यदि सूर्य न रहे तो जगत् आलोकविहीन होकर त्राहि-त्राहि पुकार उठे। ओ मेरी आँख! तू जगत्की आँख बन जा। मैं अपनी आँखको जगत्की आँख समझने लग जाऊँ। इस आँखसे अपने शरीरकाही भला नहीं, किन्तु जगत्का भला करूँ! मेरी आँखके नष्ट होनेसे जगत् यह अनुभव करने लगे कि मानो उसीकी आँख नष्ट हुई जा रही है। इस प्रकार वह आदित्यकी ज्योतिसे भासमान हो जायगा, वह तद्विषयक यश, कीर्ति और ब्रह्मवर्चससे युक्त हो जायगा—

स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च, भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद।

जैसे आदित्य विश्वको प्रकाश देता हुआ और मलिनताका अपहरण करता हुआ संसारका उपकारक है, संसारकी आँख बना हुआ है, वैसे वह भी अपनी आँखको लोकोपकारमें लगायेगा, अपनी आँखको सूर्यके समान बना लेगा।

वह कहेगा, ओ मेरे कानो! तुम्हारा असली रूप है दिशायें। अपने परिमित दायरेको छोडकर तुम दिशाओंके समान असीम बन जाओ। इस जगत्में दिग्दिगन्तमें अनन्तों शब्द गूँज रहे हैं और जगत्के दिशारूपी कानोंमें आ आकर वे पड रहे हैं। जिन विश्वरक्षाकी, लोक-कल्याणकी पुकारोंको दिशायें सुन रही हैं उन्हें तुम सुनो, तभी तुम्हारा श्रिया-रूप सार्थक हो सकता है। वह कहेगा, मैं अपने कानोंको जगत्के कान बना दूँ, अपने लिये

नहीं, किन्तु जगत्‌के लिये सुनूँ। इस प्रकार वह दिशाओंकी ज्योतिसे भासमान हो जायगा, वह तद्विषयक यश, कीर्ति और ब्रह्मवर्चस्‌से युक्त हो जायगा—

'स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च, तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद।"

संक्षेपमें कहें तो इस उपासनाका फल यह होता है कि उपासकका मन आकाशके समान, विशाल, उदार हो जाता है; उसकी वाणी अग्निके समान तेजोयुक्त हो जाती है, उसके प्राणोंमें वायुकी ज्योति, उसकी आँखोंमें आदित्यकी ज्योति, इसके कानोंमें दिशाओंकी ज्योति झलकने लगती है। जो एक अल्प और सीमित मनुष्य था, वह एक विशाल तथा असीम मनुष्य बन जाता है। इसकी वाणी जगत्‌की वाणी हो जाती है, इसके प्राण जगत्‌के प्राण हो जाते हैं, इसकी आँखें जगत्‌की आँखें हो जाती हैं, उसके कान जगत्‌के कान हो जाते हैं।

देवकामा या देवृकामा ?

(ले.- श्रीयुत धर्मदेवशास्त्री दर्शन-केशरी, पंचतीर्थ, देहरादून)

हम आर्य लोग वेदको अपौरुषेय मानते हैं और वेदके एक एक शब्द और स्वरको तथा उसके क्रमको अपरिवर्तनीय मानकर आगे चलते हैं। इसलिये यदि कोई विद्वान् परिश्रम करके गवेषणापूर्वक वेदकी प्राचीन परम्पराके अनुसार किसी अशुद्धिकी ओर ध्यान दिलाता है, तो सभी वेदानुयायी व्यक्तियोंको इससे प्रसन्न होना चाहिये।

प्राचीन समयमें हमारे सब बडे बडे धार्मिक ग्रन्थ और विशेष कर वेद कुल-परम्पराके अनुसार कण्ठस्थ रखनेकी प्रणाली थी, वेदोंकी रक्षाका यह सबसे उत्तम साधन था। आजकल तो प्रेसका जमाना है, प्राचीन वेदपाठी अब धीरे धीरे समाप्त हो रहे हैं, प्रेसका हाल यह है कि प्रतिसंस्करणमें अशुद्धियां बढती जाती हैं और नित्यनूतन पाठभेद होता रहता है। यह बात वेदके सम्बन्धमें भी लागू होती है। अबतक संस्कार-विधिकी सभी प्रतियोंमें 'देवृकामा' पाठ ऋग्वेदका छपा रहता है, यह पाठ विवाह-संस्कारमें विनियुक्त एक मंत्रका अंश है, इसमें प्रयुक्त देवृ शब्दका अर्थ निरुक्तके अनुसार देवर होता है।

इस पाठके आधारपर आर्य-सामाजिक उपदेशक नियोगको सिद्ध करते रहे हैं। यही नियोगकी सिद्धिमें प्रबल पोषक प्रमाण उपस्थित किया जाता रहा है इसलिये यदि 'देवृकामा' पाठ ऋग्वेदमें नहीं है, तो फिर आर्य-समाजके एक सिद्धान्तकी वैदिकता सिद्ध न हो सकेगी, यह बात सोचकर कुछ व्यक्ति देवृकामा पाठकोही ऋग्वेदका पाठ येन केन प्रकारेण शुद्ध बताने और सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु ऐसे व्यक्ति वेदके साथ और अपने आचार्यके साथ अन्याय करेंगे, क्योंकि ऋग्वेदमें शुद्ध पाठ देवकामाही है, यह बात सर्वसम्मत है। अबतक जो भी प्रमाण प्राप्त हुए हैं और जो साधन उपलब्ध हैं, उनसे यही सिद्ध होता है। तब ' नहि पीतं शिल्पिशतेनापि रक्तं कर्तुं शक्यते '।

एक दूसरा भी हेतु हो सकता है। ऋषि दयानन्दने ऋग्वेदमें देवृकामाही पाठ माना है, इसलिये उसेही शुद्ध सिद्ध करना आर्य विद्वानोंका कर्तव्य है। परन्तु हमारा इस सम्बन्धमें दृढ मत है कि ऋषि दयानन्दके नामपर जो भी उनके ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उन ग्रन्थोंके प्रत्येक संस्करणमें भेद होता गया है और हरबार अशुद्धियोंकी संख्या बढती गई है। अजमेरसे प्रकाशित वेदादि पुस्तकोंके आधारपर कोई भी व्यक्ति वैदिक साहित्य-सम्बन्धी गवेषणा नहीं कर सकता, क्योंकि उनमें पदे पदे भयानक अशुद्धियां पाई जाती हैं। हमें पिछले दिनोंतक कई मास जेलमें रहते हुए ऋग्वेद (मूल) पारायण करने और कुछ शब्दोंके विशिष्टार्थ जाननेके लिये ऋग्वेद संहिताकी आवश्यकता थी। देहरादून आर्यसमाजसे मैंने मूल ऋग्वेदकी पुस्तक मंगाई, तो मंत्रीजीने वैदिक यंत्रालयद्वारा प्रकाशित ऋक् संहिता भिजवा दी, परन्तु बहुत प्रयत्न करनेपर भी मैं उसे पूरा पढ न सका, क्योंकि

जब जब भी मैं ग्रन्थ हाथमें लेता था कुछही मंत्र पढ लेनेके पीछे एक आध अति स्पष्ट अशुद्धि दीख जाती थी और इससे हृदयको बहुत आघात पहुँचता था। वेदको संसारके कोने कोनेमें पहुँचानेका दम भरनेवालोंकी यह करतूत ?

जेलमें एक प्रतिष्ठित मुसलमान मौलवी भी नजरबन्द थे, उनसे वेद और कुरानके सम्बन्धमें चर्चा चलती थी। कुरानके अपौरुषेय होनेमें सबसे प्रबल युक्ति वे यह देते थे कि " कुरानका एक एक अक्षर वही है जो हजरत मुहम्मदने सीधा अपने मुखसे उच्चारण करके अपने सामने अनेक लेखकोंसे लिखवाया, आजतक कहीं भी उसमें अन्तर नहीं हुआ। कुरानके अनेक संस्करण विभिन्न देशोंमें मुद्रित हुए हैं, परन्तु उनमें आजतक मात्राका भी कहीं अन्तर नहीं

हुआ और नहीं अशुद्धिपत्रक जोडनेकी आवश्यकता हुई है।" मैं मौलवी साहबको वेदके सम्बन्धमें भी यही कहता था, परन्तु अजमेरके छपे वेद तो महा अशुद्ध हैं। वेदके साथ इस प्रकार खिलवाड शायदही किसीने की हो!

परमात्मा भला करे पं० सातवलेकरजी जिन्होंने सारे देशके बडे बडे जीवित घनपाठियोंको संग्रह करनेका भगीरथ प्रयत्न करके वेदकी शुद्ध संहिताओंको प्रामाणिक रूपमें संसारके समक्ष रखा अन्यथा कुछ वर्ष बाद तो कोई निर्णायक भी न रहता और करोडों वर्षोंतक सुरक्षित निधि योंही हमारेही हाथों लुट जाती!

अब क्या करना चाहिये ?

१. अब सार्वदेशिक सभाको यह घोषणा कर देनी चाहिये कि 'देवृकामा' पाठ ऋग्वेदका नहीं, अथर्ववेदका है। संस्कारविधिमें जहां यह मंत्र है, उसके नीचे अथर्ववेद १४।२।१८ यह लिखना चाहिये।

२. जिन प्रकाशकोंने ऋग्वेद संहितामें देवृकामा पाठ छापा है, उन्हें विवश किया जाय कि वे पाठको शुद्ध करकेही संहिताको बेचें।

विवाहसंस्कारमें नियोगार्थक मंत्रका विनियोग ठीक है कि नहीं, यह भिन्न विषय है। हम तो पाठ-शुद्धिकी बात लिख रहे हैं और इस सम्बन्धमें हमारा दृढ मत है कि ऋग्वेदका पाठ 'देवकामा' ही है। यह विषय शास्त्रार्थका नहीं है।

आलम्भन

(ले०— श्री० पं० सत्यानन्द, एम्. ए., एम्. ओ. एल्., लाहौर)

श्रौत ग्रन्थोंके " अग्नीषोमीयं पशुमालभेत " इत्यादि वाक्योंमें अनेक विद्वानोंके विचारसे " आलभ् " धातुका अर्थ " मारना " अर्थात् " जानसे वियुक्त करना " या " वध करना " माना गया है। वास्तवमें " आलभ् " का मुख्यार्थ यह नहीं, अपितु " प्राप्त करना " है। जैसा कि महर्षि पाणिनिने धातुपाठमें " डुलभष् प्राप्तौ " लिखा भी है। कुछ समय पश्चात् किन्हीं विशेष कारणोंसे गौणा-वृत्तिद्वारा " वध करना " अर्थमें " आलभ् " धातुका प्रयोग होने लगा। शनैःशनैः यह अर्थ प्रबल होता गया और अब स्थिति यह है कि संस्कृत साहित्य इसी अर्थमें " आलभ् " के प्रयोगोंसे भरा पड़ा है। जैसे—

आलम्भसमये तस्मिन् गृहीतेषु पशुष्वथ।
महर्षयो महाराज बभूवुः कृपयान्विताः॥
(महाभारत अश्व० पर्व, ९१ वां अध्याय)

[अर्थ- हे महाराज ! वधके समय जब पशु पकड़ लिये गये तो (इस दृश्यको देखकर) आमन्त्रित ऋषि लोग कृपासे द्रवित हो उठे] इस स्थलमें " आलभ् " का अर्थ निश्चितही " वध करना है।"

परन्तु " आलभ् " का मुख्यार्थ " वध करना " कदापि नहीं हो सकता। महर्षि पाणिनिने " डुलभष् प्राप्तौ " अर्थात् यह धातु " प्राप्ति " अर्थमें गिना है। कई विद्वान् कह सकते हैं कि " आङ् " उपसर्गके बलसे " लभ् " का अर्थ " हिंसा " " हनन " या " वध " हो जाता है। पर यह उनकी भूल है। वेदोंमें कई स्थलों-पर " आलभ् " प्रयुक्त हुआ है। वहाँपर कहीं भी हिंसार्थमें इसकी संगति नहीं लगती। जैसे अथर्ववेद ७।१०९।७ में " अक्षान् यद् बभ्रून् आलभे " यह पाठ आया है। यहाँ पर आलभे का अर्थ " स्पर्शद्वारा प्राप्त करना " है। अतः भावार्थ हुआ " मैं बादामी पासोंको छूता हूँ "। यदि यहां " आलभ् " को हिंसार्थक माना जाय तो कदाचित् उपरिलिखित वेदवाक्यका कुछ अर्थही न बन पायेगा। क्योंकि बेजान पासोंका वध करना संभवही कैसे हो सकता है ?

इसी प्रकार यजुर्वेद २४।११ में " धूम्रान्वसन्ताय, आलभते श्वेतान् ग्रीष्माय, कृष्णान् वर्षाभ्यो, अरुणान् शरदे, पृषतो हेमन्ताय, पिशंगान् शिशिराय " यह पाठ आता है। यदि उक्त मंत्रमें " आलभ् " धातुका अर्थ " वध करना " किया जाय तो मंत्रार्थ होगा " वसन्त (ऋतु) के लिये धूम्र रंगवाली और ग्रीष्म (ऋतु) के लिये श्वेत रंगवाली, वर्षा (ऋतु) के लिये काले रंगवाली, शरद् (ऋतु) के लिये लाल रंगवाली, हेमन्त (ऋतु) के लिये चितकबरे रंगवाली और शिशिर (ऋतु) के लिये पीले रंगवाली, वस्तुओंका वध करता है।" परन्तु इस मंत्रार्थसे कुछ आशय सुलता नहीं। इसके विपरीत " आलभ् " का अर्थ यदि " प्राप्ति, " " स्पर्श " या ' प्रयोग करना ' किया जाय तो तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि ग्रीष्म ऋतुमें सफेद कपड़ोंका प्रयोग तो भौतिक विज्ञानके अनुकूल भी है। वैज्ञानिक लोग मानते हैं कि श्वेत रंगकी वस्तुएँ प्रकाश और गर्मीकी किरणोंको अपने अन्दर जज्ब नहीं करतीं, अपितु लौटा देती हैं। "White colouer is bad abrsorver and good reflector of heat, and light." " आलभ् " को इसी अर्थमें लेनेसे मंत्रका गूढ रहस्य समझमें आता है, अतः इसका यह अर्थही युक्तिसंगत है। इसके विपरीत ' वध करना ' इत्यादि अर्थ संगत नहीं।

आगे चलकर यजुर्वेदके ३० वे अध्यायमें पुनः आलभते का प्रयोग आया है। वहाँ पिछले अठारह मंत्रोंकी संगति इकट्ठीही लगती है। इन सबमें केवल एकही क्रियापद ' आलभते ' है जो २२ वें मंत्रमें आया है इन सब मंत्रोंकी संगति इसी क्रियासे लगती है। यदि ५ वें मंत्रकी संगति ' आलभते ' क्रियापदसे लगाई जावे, तो वह मंत्र इस प्रकार बन जावेगा—

'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते, क्षत्राय राजन्यमालभते' इत्यादि, अब इस प्रकरणमें यदि 'आलभ्'का 'अर्थ वध करना' किया जाये तो मंत्रार्थ होगा 'ब्रह्म (की प्राप्ति) के लिये ब्राह्मणका वध करता है और क्षत्र (राज्य की प्राप्ति) के लिये राजन्य (सैनिक) का वध करता है।' भला क्या कभी ज्ञानी ब्राह्मणको मारकर ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है? नहीं, कदापि नहीं। अतः आलभतेका अर्थ 'वध करना' न मानकर कुछ और ही किया जाना चाहिये। अब यदि यहाँ आलभ्का अर्थ 'प्राप्ति' या समीप जाना किया जाय तो मंत्रार्थ इस प्रकार होगा-'ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ब्राह्मणको प्राप्त होता है अर्थात् उसके समीप जाता है' इत्यादि। यह अर्थ है भी युक्तिसंगत। इस प्रकार वेदमें जहाँ भी 'आलभ्' का प्रयोग आया है 'वध करना' इसका अर्थ कहीं भी नहीं लगता। यही तो कारण है कि वैदिक कोष निघण्टुमें जहाँ 'हन्नोति' इत्यादि ३३ वधकर्माणः धातुओंका परिगणन किया गया है वहाँ 'आलभ्' का उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि वैदिक कोष निघण्टुके संकलन-कालतक 'आलभ्' ने 'वध करना' इस अर्थको संगृहीत नहीं किया था।

अब प्रश्न उठता है कि यदि प्राचीन वैदिक साहित्यमें 'आलभ्' का अर्थ 'वध करना' नहीं है, तो बादमें 'आलभ्' का यह अर्थ कैसे हो गया? इस गुत्थीको सुलझानेके लिये हम पाठकोंको पुनः यजुर्वेदके ३० वें अध्यायकी ओरही ले जाना चाहते हैं। वहाँपर पिछले १८ मंत्रोंमें १८४ पुरुषोंकी गणना की गई है, जिनके साथ राजाका व्यवहार पड़ता है। उनमें कइयोंको राजा प्रोत्साहित करता है, ताकि उनके कार्योंसे समाजकी उन्नति हो सके। शेष मनुष्योंको इसलिये यहाँ परिगणित किया गया है ताकि राजा उन्हें दण्डादि देकर सुधार दे या विनष्ट कर दें जिससे कि वे समाजमें कोई दोष न उत्पन्न कर सकें जैसे कि १८ वें मंत्रमें आया भी है 'अन्तकाय गोघातं...... आलभते' इसका अर्थ होगा 'राजा (यम) अर्थात् प्राणदण्डके लिये गोघातकको प्राप्त करें'। यजुर्वेदके इस अध्यायमें इस प्रकारके स्थलोंमें जहां कि समाजके प्रति पाप करनेवालोंकी गणना की गई है और उनके प्रति राजाका दण्डरूपी व्यवहार भी उल्लिखित है, वहाँपर 'आलभ्' का 'प्राप्ति' अर्थ दबता जाता है और दण्डभावना प्रबल हो जाती है। वस्तुतः बात यह है कि वाक्यार्थ-प्राणदण्डको धात्वर्थ समझ लिया गया है और इस तरह 'आलभ्' काही सीधा अर्थ प्राणदण्ड अर्थात् 'वध' समझा जाने लगा। 'आलभ्' में जो 'लभ्' धातु है उसका अर्थ प्राप्तिही है। परन्तु इन स्थलोंपर परिगणित पापियोंकी राजाद्वारा केवल प्राप्तिही अभीष्ट नहीं अपितु अभीष्ट यह है कि उन्हें पकड़कर दण्ड दिया जावे। अतः 'अन्तकाय गोघातं...... आलभते' इत्यादि वाक्योंमें दण्ड= हिंसा=घात = वध, इत्यादिकी भावना प्रबल होती गई। उक्त स्थलसे संगृहीत हिंसाकी भावना 'आलभ्' में धीरे धीरे सर्वत्र संगृहीत होने लगी और यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल हुई कि उत्तरकालीन संस्कृत साहित्यमें 'आलभ्' का मुख्यार्थ 'वध करना' ही हो गया, जैसा कि ऊपर दर्शाया जा चुका है।

मैत्रायणी संहिता १।५।९ में 'वत्समालभते वत्सनिकान्ता हि पशवः' यह पाठ आया है। काठक संहिता ७।८ में तत्स्थानीय पाठ इस प्रकार है- 'वत्सं परा हन्ति वत्सनिकान्ता हि पशवः'। इस प्रकारके स्थलोंने भी 'आलभ्' को हिंसार्थ अपनानेमें अवश्य सहायता दी होगी। यहाँ 'परा हन्ति' 'आलभते' का पर्याय है। परन्तु वस्तुतः ऐसा तभी हो सकता है यदि 'हन्' धातुका 'गति' (ज्ञान, गमन, प्राप्त) अर्थही संगृहीत किया जाय और हिंसा अर्थकी निवृत्ति कर दी जाये। परन्तु दूसरी ओर हुआ यह कि 'हन्' का 'हिंसा' अर्थ प्रगल्भ होता गया। तब अनायासही 'पराहन्ति' पर्यायने 'आलभते' को भी हिंसार्थक बना दिया। नीचे उत्तरकालीन साहित्यसे ऐसे स्थलोंका संग्रह किया गया है जहाँ 'आलभ्' का अर्थ 'वध करना' कदापि युक्तिसंगत नहीं हो सकता। इससे पाठक जान जायेंगे कि 'आङ् पूर्वक लभ् (आलभ्)' धातुका अर्थ 'वध करना' जैसा कि श्रौत ग्रन्थोंमें किया जाता है और जो कि वैदिक यज्ञोंमें पशुबलिका मूलाधार है, कदापि युक्तिसंगत नहीं--

(क) पारस्कर गृह्यसूत्र १।८ में जो विवाहप्रकरण है उसमें हम निम्न वाक्य पाते हैं--

'दक्षिणांसमधि हृदयमालभते'

[शब्दार्थ-(वह वधूके) दाहिने कन्धेके ऊपरसे हृदयका आलम्भन (स्पर्श) करता है]

इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र १।११, १।१३, २।३, में भी आलभते शब्द आया है। वहाँ भी " वध करना " इस अर्थमें इसकी संगति नहीं लगती,

(ख) आश्वलायन गृह्यसूत्र १।१५।१ निम्न प्रकार है। (देखो जातकर्म-संस्कार-प्रकरणमें-)

" कुमारं जातं पुरान्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन प्राशयेत्। "

[शब्दार्थ— इसके पूर्व कि नवजात बालकका कोई अन्य आलम्भन (स्पर्श) करे उसे सोनेकी सलाइद्वारा सोनेके पात्रमें रखा हुआ घी और मधु चटाना चाहिये '] इस स्थलमें भी ' आलम् ' का अर्थ 'वध करना' संभव नहीं।

(ग) गोभिल गृह्यसूत्र २।७।२३ इस प्रकार है। (देखो जातकर्म-संस्कार-प्रकरणमें)

' अत ऊर्ध्वमसमालम्भनमादशरात्रात् '

इसपर श्री पं. सत्यव्रत सामश्रमीजीने निम्न भाष्य किया है—

अत ऊर्ध्वम्, नाभिकृन्तनात् पुरस्तात्, 'आदशरात्रात्' दशरात्रविशेषं यावत् ' असमालम्भनम् ' अस्पर्शनम् कुमारमातुरिप्यशौच विधिः।

यहाँपर श्री. पं. सामश्रमीजीने स्पष्टही आलम्भनका अर्थ स्पर्श किया है।

(घ) आपस्तम्ब धर्मसूत्र प्रश्न १, पटल ५, खं. ३ का तृतीय सूत्र इस प्रकार है :—

' केशानङ्गं वासश्चालभ्याप उपस्पृशेत् '।

[शब्दार्थ- केश, अंग और कपडेको छूनेके पश्चात् मनुष्यको पानीसे हाथ धोने चाहिये] श्री. उज्ज्वलक उक्त सूत्रपर भाष्य करते हुए ' आलभ्य ' शब्दका ' स्पृष्ट्वा ' इस प्रकार अर्थ करते हैं।

(ङ) मीमांसा- दर्शनके अ. २। पा. ३। सू. १७, की टीकामें सुबोधिनीकारने निम्नलिखित वाक्य लिखा है।

' वत्सस्य समीपे आनयनार्थमालम्भः स्पर्शो भवति '।

[शब्दार्थ- बछडेको (गौऊके) समीप लानेके लिये पकडना (स्पर्श करना) आलम्भन कहाता है] इस स्थलमें स्पष्टही आलम्भनको स्पर्श कहा गया है।

(च) आयुर्वेदमें दुरालभा नामक एक औषधिका उल्लेख है। भाषामें इसे जवाँह, जवासा, या यवासा, कहते हैं दुस्पर्शः भी इसीका पर्याय है। अतः ' आलभ् ' का अर्थ ' स्पर्श करना ' यह इन पर्यायवाची शब्दोंसे भी व्यक्त हो जाता है। भावप्रकाश निघण्टु गुडूच्यादि वर्गका २११ वाँ श्लोक इस विषयमें प्रमाण है।

यासो यवासो, दुःस्पर्शः धन्वयासः कुनाशकः। दुरालम्भा दुरालभा समुद्रान्ता च रोदनी।

(छ) पूर्व मीमांसा १।१।१० के भाष्यमें-

' सः (प्रजापतिः) आत्मनो वपामुदाखिदत '

तै. सं. २।१।१।४ रूपी विषय वाक्यकी व्याख्या करते हुए शबर स्वामीने ' आलभ्य ' का अर्थ ' उपयुज्य ' इस प्रकार किया है।

इन स्थलोंसे पाठकोंको ज्ञात हो गया होगा कि—

(क) ' आलभ् ' (आङ् पूर्वक लभ्) का मुख्यार्थ वध करना (हिंसा) नहीं अपितु प्राप्ति है। जैसा कि महर्षि पाणिनिने अपने धातु-पाठमें निर्दिष्ट किया है।

(ख) वेदोंमें इसी ' प्राप्ति ' अर्थमें ' आलभ् ' का प्रयोग हुआ है और चारों वेदोंमें हिंसार्थमें मुख्यतया एक स्थानपर भी इसकी संगति नहीं लगती।

(ग) हिंसार्थमें ' आलभ् ' का प्रयोग वैदिक समयके पश्चात् आरम्भ हुआ। और इसका मूल यजुर्वेद अध्यायके ३० वें अध्यायके वे स्थल समझने चाहिये जहां कि दण्डार्थ (हिंसार्थ) समाजमेंसे गोघाती इत्यादि दुष्ट पुरुषोंका ' आलम्भन' राजाओ करना विधान किया है, जैसा कि हम पीछे लिख आये हैं।

(घ) संहिताओंमें कई स्थलोंपर ' हन् ' धातुका प्रयोग ' आलभ् ' का समानार्थक मानकर किया है। यह है तो ठीक क्योंकि हिंसाके अतिरिक्त ' हन् ' धातुका अर्थ ' गति ' भी है, जिसमें प्राप्ति भी समाविष्ट है) गतिके तीन अर्थ माने गये हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति) और इन प्रयोगोंने भी ' आलभ् ' को हिंसार्थ ग्रहण करनेमें बडी सहायता दी है। उत्तरकालमें ज्यों ज्यों ' हन् ' केवल हिंसार्थमेंही रूढ होता गया त्यों त्यों ' आलभ् ' भी हिंसार्थको अधिकाधिक अपनाता गया।

(ङ) अन्तमें जब श्रौत यज्ञोंमें पशुबलिका आविर्भाव हो गया तो ' आलभ् ' भी हिंसार्थमें रूढ हो गया।

मनोरमा

(के०- सा० र० रघूत्तमाचार्यः तर्कोपाध्यायः, श्रीमुष्णम्, मद्रासम्)

आसीत् अवन्तिकायां, काऽपि पतिव्रता ललना मनोरमा नाम्नी । पातिव्रत्य इव, सौन्दर्यविभवेऽपि, आसीत् सा निःसमा अभ्यधिका । तस्याः पातिव्रत्यप्रभावभूमानं अजानानः कोऽपि कामुकः, तां वशयितुं समयं प्रतीक्षन् आसीत् विटराजनामा ।

कदाचित् तटाकं एकाकिनी गच्छन्ती मनोरमा तेन प्रैक्षि। चिराद् अनुवर्तमानस्य अस्मदीयमनोरथस्य परिपूरण-समय उपस्थापित इव कारुणिकेन विधिना, इति सन्तुष्ट-मनाः सः तां एव अनुसरन्, तया सह संभाषितु आरेभे। सा च अस्य मनोविकारं संविदानाऽपि, मनागपि अमर्षम् अनुद्घाटयन्ती, प्रसन्नहृदयतां एव प्रदर्शयन्ती, मन्द-स्मिताञ्चितमुखी ददर्श।

ततः च विटराजो धैर्यं हर्षः च प्राप्नुवन् पुनः पुनः संभाषमाण एव, अनुव्रजति स्म । अथ पुरतः समायातान् कांश्चन महापुरुषान् वीक्ष्य, चकितः सन् एष अपससार । तथापि मनोरमाया मन्दस्मितं किञ्चित् अनुभूतवान् असौ यतस्ततः एव यथाकथञ्चित् अपि, तां वशयेयं एव न चिरात्, इति अध्यवसन्, पुनरपि तस्या एकाकिन्याः प्रेक्षण-समयं एव प्रतीक्षमाण आसीत् ।

तथा एव अचिरात् कोऽपि समयविशेषः संजघटे। विटराजो मनोरमान्तिकं उपसृत्य, धूर्तहासं दर्शयन्, किमपि किमपि कथयन्, 'आवयोः समागमः कदा कुत्र शोभनः ?' इति च अपृच्छत् ।

मनोरमा तु अनपायमन्दस्मितमुखी सती प्रत्यभाषत, 'अद्य रात्रौ अष्टघंटावादनावसरे मम भर्ता काशीं प्रयास्यति श्रीविश्वनाथसेवार्थम् । भवान् पार्श्वगृहे समयप्रतीक्षः अवतिष्ठताम् । भर्तरि निष्क्रान्ते भवनं मे प्रविशतु भवान् श्रीमान् इति ।'

एतद् आकर्णितवतो विटराजस्य हर्षप्रकर्षो वाचां अभूमिः अभवत् । महता कुतूहलेन दिवसापगमं रात्रेः उदयं च प्रतीक्षमाणः आस्ते । अस्ताचलशिखरं च अवजगाहे रविः ।

विटराजस्य मनोरथानां अतटाः प्रवाहाः अभिवर्धन्ते । सप्तवादनसमयानन्तरं एव, मनोरमासदनसनीडं गतो निलीनः, तद्भर्तुः बहिःप्रयाणसमयं अन्वीक्षमाण आसीत् । मनोरमा भर्तुः सकाशे पुरस्तात् एव किम् अपि सकेतं कृतवती । तत एव स महत्तरभारग्रन्थिभरित-मूर्धा, बहिः निष्क्रम्य वीथिकायां तिष्ठन् 'आर्ये श्री काशी-विश्वनाथदर्शनानन्तरम चिरात् एव आगच्छेयं; जागरूका वर्तस्व त्वं इह । सम्यक् कवाटघट्टनादिना गृहरक्षणं आचरस्व, जागृहि । ' इति आम्रेडयन् देशान्तरगमन-भावनया एव प्रययौ ।

प्रभाते मनोरमया प्रोक्तं तथ्यं एव इति, न एषा विप्र-लिप्सुः इति च, दृढविस्रम्भं लभमानो विटराजः, सद्य एव तस्याः सद्म सकौतुकं प्राविशत् । बहिः वितर्दिकायां एव निषीदन्ती मनोरमा । 'भवान् अन्तरा एव अवतिष्ठताम् । क्षण-विलम्बेन अहं कीलितकवाटा समागमिष्यामि अन्त' इति अभिधाय, विटराजं अन्तः प्रवेश्य घटिकासमनन्तरं वहिर्विरच्य कवाटं, अन्तर्गत्वा, त आसने समुपवेश्य निष्कुट-प्रान्तमगमत् ।

बहिः निष्क्रान्तः भर्ता, अथ पुनः आवृत्य, स्वकण्ठनादं प्रकाशयन्, कवाटे शब्दं अकरोत् । तदात्वे विटराजः भीतः इतिकर्तव्यतामुग्धः वेपमानवपुः अतिष्ठत् । तथाविधं च तं अभिवीक्ष्य मनोरमा, " मा ते भूत् मनागपि भीतिः । न कोऽपि अनर्थः ते सम्भविता । मम भर्ता तु, यत् किमपि विस्मृतं वस्तु नेतुं, इह पुनः आगतः इव । गृहीत्वा तत् वस्तु क्षणात् एव निर्गमिष्यति । स भवन्तं इह पश्यन् विहतहृदयो भवेत् हि । अतथाभवाय कञ्चित् उपायं कथ-यामि, शृणु । उपरि वेत्रलतिकायां श्वेतं परिधानं अस्ति । खलु तत् उद्धृत्य कटितटे वेष्टयित्वा, अवगुंठितशिराः च

भूत्वा, अंगणे समुपविश्य, तस्मिन् घरट्ट कोद्रवस्य पेषणं कुर्वन् वर्तस्व । मुखं स्वं मनागपि अप्रदर्श्य, अवनतशिरा एव धान्यपेषणैकपरो भव । भर्तुः अहं समुचितं उत्तरं उदीरयेयम् । स च पुनः प्रयास्यति पञ्चनिमिषाभ्यन्तरे । ततः परं उत्तिष्ठतु भवान् । कतिपयनिमेषावधि विधवावेषधारणेन धान्यपेषणं एव भवता कार्यं । ' इति अभिधाय, सुशोभनो अयम् अभ्युपायः इति सानन्दं अंगीकृतवन्तं तं, सद्यः कृतविधवावेषं घरट्टेन सह प्रांगणे समुपवेश्य गोणी-परिमितं कोद्रवधान्यं च तत्पार्श्वे निधाय तत्पेषणव्यग्रं तं आकलय्य, अथ कवाटं उद्घाटयत् ।

भर्ता च अन्तरा आगत्य ' कवाटोद्घाटने कुत इयान् विलम्ब?' इति पप्रच्छ । मनोरमा च, 'न किमपि नाम, तृतीयगृहस्वामिनी कण्वाख्या स्वगृहे घरट्टाभावेन धान्य-पेषणार्थं अत्र आगतवती । निष्कुटात् घरट्टं आनीय, अत्र स्थापयित्वा, सम्यक् सौकर्यं संविधाय, कवाटं उद्घाटयम् । [अत एव मनाक् विलम्बः । ' इत्यभिधाय तं अप्राक्षीत ' किं इति प्रतिनिवृत्ता यूयं, ' इति ? स प्रत्याह, ' अद्य नवमी इति विस्मृतवान् अहम् । त्वम् अपि न प्रत्यबोधयः । किञ्चित् दूरं जग्मुषा मया स्मृतं अभूत् । सर्वथा नवम्यां प्रयाणं अनुचितं खलु, इति श्वः जिगमिषुः प्रतिनिवृत्तः अस्मि ।' एवं व्यवहरन् एव कोद्रवं पिषतो विधवावेषधर-विटराजस्य पार्श्वे सुखशायिकायां निषण्णः, महाभारतानुवाद-निरीक्षणतत्परो अभूत् । मनोरमा तु शय्यागृहे सुखं सुष्वाप । भर्ता तु श्रीसंस्कृतपात्रिकानिरीक्षणात् न एव विरमति ।

हा ! हन्त ! विटराजस्य वैक्लव्यं किं कथ्यताम् ! अवनतं शिरः, स कथं अपि उन्नयितुं न इष्टे । अन्यतः क अपि दृष्टिं प्रसारयितुं च बत न प्रभवति । मध्ये लघुशंकापनोदनार्थम् अपि उत्थानं दुश्शकं आसीत् । एवं नाम दुर्वचं क्लेशं अनुभवन् एव मध्ये विच्छेदलेशं अपि अकुर्वाणः, आरुणोदयं धान्यपेषणवैदग्धीम् अविजहत् आत्मनो दुर्मतिं विनिन्दन् अवर्तत । पिष्यते स्म च गोण परिमितं अपि धान्यं अशेषम् । उदयशिखरासन्ने भगवति मरीचि-मालिनि, गृहस्वामी महाभारतनिरीक्षणं परिसमाप्य कवाटं उद्घाटयन् अयासीत् तटाकम् । विटराजः अपि वागुराबन्धनिर्मुक्तो वृक इव, सरभसं समुत्थाय च, अवगुण्ठाम्बरं सामन्दानन्दं अधावत् ।

मनोरमा पुनः कदाचित् विटराजं स्वप्रयत्नेन निरीक्ष्य, ' अद्य मम भर्ता न अस्ति एव अत्र इति; आगन्तुं अवकाशः अस्ति कच्चित् भवतः ' इति अनुयुयुजे । स तु ' चतुरे ! पुनरपि गोणीपरिमितकोरद्रुपेषणोपायं पश्यसि किमु ?' इति कथयन् एव अपससर्प । (संस्कृतात्)

आर्योपदेशक महाविद्यालय हरिद्वारका प्रवेश

आर्योपदेशक महाविद्यालय हरिद्वारका नया प्रवेश इस वर्ष अक्तूबरतक होगा। संस्कृतकी बहुत अच्छी योग्यतावाले विद्यार्थी लिये जायेंगे। कमसे कम योग्यता पंचतन्त्रपर पूर्ण अधिकार हो। उत्तरोत्तर योग्यतानुसार ४० विद्यार्थी इस वर्ष लिये जायेंगे। सदाचारी, पुरुषार्थी (चुस्त) और आर्यसमाजके प्रचारके लिये अपना सर्वस्व अर्पण करनेवाले २० वर्षसे अधिक आयुके विद्यार्थीही प्रार्थनापत्र भेजें। आयु, योग्यता, निवासस्थान और क्या क्या भाषा जानते हैं, अवश्य लिखें। महाविद्यालयकी ओरसे भोजन, पुस्तक और निवासस्थानका प्रबंध होगा! आर्य संन्यासी श्री स्वामी अमृतानन्दजी व्याकरणाचार्य इस महाविद्यालयके मुख्य उपाध्याय हैं।

श्री. महात्मा नारायण स्वामीजी, श्री. महात्मा खुशहालचन्दजी, श्री. पं. नरदेवजी शास्त्री और श्री. पं. बुद्धदेवजी विद्यालंकारने इस आर्योपदेशक महाविद्यालयकी योजनाके महत्वका अनुभव करते हुए अपनी शक्ति अनुसार विद्यार्थियोंको पर्याप्त रूपसे लाभान्वित करनेका निश्चय किया है। प्रार्थनापत्र इस पतेपर भेजें। कविराज हरनामदासजी, बी.ए., मुख्य अधिष्ठाता, आर्यनगर, ज्वालापुर, हरिद्वार. जि. सहारनपुर, यू. पी.

हिन्दु-सङ्घटन

हिंसासे दूर रहनेवाला

(१) 'हिंसया दूयते यस्मात् हिन्दुरित्यभिधीयते।' (कुलार्णव-तन्त्र)

'हिंसासे जिसे दुख होता है, वह हिन्दु कहलाता है' इस प्रकार हिन्दु शब्दका लक्षण तंत्र-ग्रन्थोंने किया है। यह लक्षण हिन्दुओंके व्यवहारसे भी प्रतीत होता है। यह विधान सर्वथा असत्य नहीं है कि, अन्य धर्मोंकी तुलनामें हिंसक वृत्ति हिन्दुओंमें कम दिखाई देती है। वर्ण तथा आश्रमका अवलोकन करनेपर यह बात अधिक स्पष्ट रीतिसे ध्यानमें आ जाती है। चारवर्णोंमें ब्राह्मण वर्ण दूसरोंकी अपेक्षा निःसंशय कम हिंसा करनेवाला है। वैश्यका भी वही हाल है। तथा आश्रमोंमें संन्यासी अत्यन्त न्यून हिंसा करनेवाला अथवा अहिंसाके लिये प्रयत्नशील है। 'मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयं।' (मुझसे किसीको भय नहीं होगा) ऐसी प्रतिज्ञा करनेके बादही संन्यास-ग्रहण हो सकता है। तात्पर्य वर्ण तथा आश्रमोंमें जो लोग श्रेष्ठ माने गये हैं, उनका आदर्श जीवन अहिंसात्मक हो, ऐसा इस व्यवस्थाका उद्देश स्पष्ट है।

भगवद्गीताने सोलहवे अध्यायके प्रारम्भमें दैवी सम्पत्तिका वर्णन किया है। वहाँपर दैवी संपत्तिके गुणोंमें 'अभय, अहिंसा, अद्रोह' आदि गुणोंका उल्लेख है। अहिंसाके होनेपर अद्रोह तथा अभय इन दोनों गुणोंका होना संभव है। इससे यह बात ठीक तरहसे समझमें आती है कि तात्विक ध्येय-दृष्टिसे हिन्दुधर्मको मानवी जीवनमें अधिकसे अधिक अहिंसाही अभिप्रेत है।×

× टिप्पणी— (१) हिंदुधर्मके लक्षण और भी हैं, जैसा—

हिंकृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाऽभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयोऽघ्न्येऽयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥ (ऋ. १।१६४।२७)

'सब धनोंकी स्वामिनी, अपने बछडेको दूध पिलानेकी इच्छा करती हुई, हंबारव करती हुई आ रही है। यह गौ अवध्य है, अश्विदेवोंके लिए यह गौ दूध देवे तथा बडे सौभाग्यके लिये इसकी वृद्धि हो।' इसमें—

हिंकृण्वती = हिंकार करनेवाली पुष्ट गौ,
दुहाम् पयः = दुहकर देवे बहुत दूधको

इन पदोंके प्राथमिक दो अक्षर 'हिं=दु' हैं। ये पद गो-सभ्यताके वाचक हैं। गोसभ्यताकी सुरक्षा करनेवाले हिंदु हैं। इनके कुलका नाम 'गोत्र' (गोपालक) है, इनका ईश्वर इन्द्र 'गो-द' (गायोंका दान करनेवाला) है, पृथ्वीका नाम 'गौ' है, भाषा, इन्द्रिय आदिके नाम गौ हैं। नगरद्वारका नाम 'गोपुर' है। सूर्य, चन्द्र, किरण आदि सबका नाम गौ है। सब विश्वही गोवाचक है। इसका नाम गो-सभ्यता है। जैसी गौ अपने बछडेपर प्रेम करती है, वैसा प्रेम मनुष्यका दूसरे मनुष्योंपर हो। यही हिंदु-सभ्यता है। 'गौ' प्रेमका और अहिंसाका प्रतीक है। तथा-

(१) हिंसा दूष्या, दुर्जनो हिंसनीयः हिंदुभावः सर्वथा शंसनीयः॥
हिंसां दूषयते दुष्टां, स्वयं दुष्टं हिनस्ति यः।
अहिंसको दुष्टहन्ता स वै हिंदुरिति स्मृतः॥ (शंकर रामचन्द्र गोडबोले, पूना)

इसमें (१) हिंसाका दूषण (निंदन) करनेवाला, (२) हिंसासे दुर्जनको दूर करनेवाला, (३) स्वयं सदा अहिंसा व्रतका पालन करनेवाला, तथापि दुष्टोंका दमन करनेवाला, तथा (४) सब प्रकारसे पूर्वोक्त हिंदुभावकी प्रशंसा करके उसका संवर्धन करनेवाला जो है वह हिंदु कहलाता है। [यह हिंदुका लक्षण पूनाके एक सज्जनका बनाया है।]

(४) पञ्चजनोंमें मुख्य ब्राह्मण हैं, और ब्राह्मणोंका राजा 'इन्दु' है, इसलिये सबका अधिपति 'इन्दु' है। जो इन्दुके अनुयायी, उपासक वा भक्त होते हैं उनको 'इन्दु' ही कहते हैं। 'इन्दु' ही 'हिंदु' है। 'इन्दु' का अर्थ 'गीला करनेवाला, स्नेहपूर्ण व्यवहार करनेवाला, शान्त, प्रसन्नचित्त' है। हिंदुका यह लक्षण कईयोंके मतसे है।

यद्यपि तात्त्विक दृष्टिसे हिन्दुधर्म अहिंसक है, तथापि उसकी इस अहिंसाका अतिरेक होकर उसको अव्यवहार्य स्वरूप कभी भी न आने पाया। जबतक संसारमें अनेक हिंसक क्रूर जातियाँ तथा महाहिंसक पशु अवशिष्ट हैं, तब-तक आत्यन्तिक अहिंसा यह तत्त्व अशक्यप्राय है। इसी लिये अत्यावश्यक हिंसा करनेवाले क्षत्रिय तथा शूद्र ये दो वर्ण समाजके संरक्षणके लिये निर्माण किये। जहाँ जितनी हिंसा करना आवश्यक है, वहाँ उतनी हिंसा करके शत्रुका नाश करनेमें ये वर्ण सदा तत्पर होते हैं। इतनाही नहीं तो—

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते॥३४८
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे ।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दुष्यति॥३४९
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥ ३५१ ॥
(मनु० ८)

' जब धर्मपर अत्याचारी लोग हमला करते हैं, तब द्विज भी शस्त्र धारण कर इन क्रूर दुष्टोंका प्रतिकार करें। जब छलनाएँ, विद्वान् तथा निर्बलोंकी सुरक्षाके विषयमें संदेह निर्माण हो, तब आक्रमणकारी आततायीका वधही करना उचित है। उस वधसे मनुष्य दोषयुक्त नहीं होता। दुष्ट आततायी यदि शस्त्र लेकर आता हो, तो उसे तत्काल नष्ट कर डालना चाहिये। इससे कभी दोष नहीं लगता।'

अहिंसा यद्यपि ध्येयवस्तु है, तथापि घरोंमें आग लगा देनेवाला, दूसरोंपर विषप्रयोग अथवा शस्त्रप्रयोग करनेवाला, लूटमार करनेवाला, अबलाओंपर हमला करनेवाला, बच्चोंको तथा अशक्तोंको मारनेवाला, इस प्रकार जो मनुष्य-रूप पशु उत्पात मचाता हो, उसका वध करनेमें कोई दोष नहीं है। यद्यपि हिन्दुधर्म तात्त्विक दृष्टिसे अहिंसक है, तथापि वह जीवन-संरक्षणके लिये जो हिंसा अत्यावश्यक है, उसे करनेकी भी आज्ञा देता है।

मनुष्यके जीवित रहनेपरही आगे चलकर धर्माचरण हो सकता है। यदि वह मरही जाय, तब फिर धर्माचरण कैसे हो? इसलिये जीना आवश्यक है। जब दुष्ट प्रबल होते हैं तब सज्जनोंका जीना भी दूभर हो जाता है। ऐसे कठिन समय सब वर्णोंके तथा आश्रमोंके लोगोंने शस्त्र धारण कर समाजका संरक्षण करना चाहिये, यह नियम शास्त्रने

(टिप्पणी पूर्व पृष्ठसे)—

(५) इस भारतवर्षका नाम 'इन्द्रद्वीप' था, इसका अपभ्रंश, इन्द्रद्वीप = इन्द्दीय = इन्दीय = हिंदीय = हिंदी = हिंदु हुआ। इसका अर्थ भारतदेशका निवासी, भारतीय।

(६) सिन्धु नदी जिस देशमें बहती है, उस देशका नाम ' सिन्धु-देश ' है, उस देशके लोगोंका नाम 'सिन्धु-जनाः, सिन्धवः ' है। ' सिन्धु'काही ' हिंदु ' बना है। यह व्युत्पत्ति कई मानते हैं।

हमें जो व्युत्पत्ति पसंद है और हिंदुके जो लक्षण पसंद हैं, वे मुख्य लेखमें दिये है। हिंदु जातीका प्रदेश ' पश्चिममें संपूर्ण अफगाणिस्तान, दक्षिणमें समुद्र, पूर्वमें संपूर्ण ब्रह्मदेश और उत्तरमें संपूर्ण तिब्बत ' है, दक्षिण समुद्रके द्वीप भी इसमें संमीलित हैं।

(७) आसिन्धु सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका। पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

' हिंदुस्थानदेशको जो अपनी पितृभूमि और पुण्यभूमि मानता है वह हिंदु है।' यह वीर सावरकरजीकी व्याख्या है। यह आजके व्यवहारके लिये उत्तम व्याख्या है, पर इसमें अफगाणिस्तान, जावा, सुमात्रा आदि स्थानके मूल हिंदुधर्मीय लोग छूट जाते हैं।

(८) हिंदु ध्येयदृष्टिसे अहिंसक हैं, इसके समझनेके लिये ' महादेव ' और ' शेषशायी नारायण ' के स्वरूप मननीय हैं। महादेवके घरमें गणपतिका वाहन चूहा, कार्तिकेयका वाहन मोर, महादेवका आभूषण सर्प और वाहन बैल और पार्वतीका वाहन सिंह ये जिस प्रेमसे रहते हैं, वह प्रेमका रूप अहिंसाही है। नहीं तो जगत्में मोर×सांप, चूहा×सांप; बैल×सिंहका वैर प्रसिद्ध हैं, वह महादेवके घरमें नहीं है, अतः यह घर हिंदुका ध्येय है। शेषशायीके रूपमें 'सर्पपर सुखसे निद्रा ' करना परम अहिंसाकी सिद्धिसेही होनेवाली बात है। हिंदुका यह ध्येय है।

निर्माण किया। वह अत्यंत योग्य भी है।' आज आत्मिक अहिंसा शक्य नहीं है, वह आगेका भविष्य जानकरही हिन्दुधर्मके शास्त्रकारोंने कठिन प्रसंगपर, यदि जीवनमरणकाही प्रश्न निर्माण हुवा, तो फिर आत्मरक्षणके लिये आवश्यक हिंसा करनेको अनुमति दे रखी है।

क्षत्रिय तथा शूद्रको शस्त्र चलानेका शिक्षण मिलताही है। परन्तु पूर्वकालमें ब्राह्मण तथा वैश्यको भी वह शिक्षण मिला करता था। यदि वे शस्त्र चलानेमें अनभ्यस्त होते, तब कठिन समय आनेपर उनका शस्त्र चलाना असंभव हो जाता। तस्मात् हिंदुधर्मकी रीतिके अनुसार बच्चोंको जब गुरुकुलमें पढाया जाता, तबही उन्हें दूसरे शिक्षणके साथही शस्त्रविद्या भी पढाई जाती। क्षत्रिय तरुणोंको यह शस्त्रास्त्र विद्या विशेष रूपसे पढाई जाती। तात्पर्य प्रत्येक मनुष्य तथा प्रत्येक जातिको स्वसंरक्षणक्षमताका शिक्षण देनाही चाहिये। यदि यह व्यवस्था राज्यसंस्थाकी ओरसे न हो, तो फिर प्रत्येक जातिने अपना संगठन करके अपने लोगोंको यह शिक्षण देकर स्वसंरक्षणक्षम बनाना चाहिये।

हिन्दु और आपसकी फूट

जिन लोगोंने हिन्दु धर्मकी रचना की, उन्होंने उसे इस ढंगसे बनाया कि, उसमें प्रत्येक व्यक्तिका पूर्ण स्वतंत्रतासे विकास होता रहे, पर इससे 'आपसी फूट' निर्माण हो गयी! हिन्दुओंका 'आपसी फूटके साथ ऐसा नैसर्गिक सम्बंध दिखाई देता है, इसीलिये उन्होंने आपसी संगठन करनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये। अन्य समाजोंमें हिन्दुओंके जैसी स्वाभाविक फूट दिखाई नहीं देती। इसीलिये उनके साथ हिन्दुओंका संगठित होना अशक्यप्राय है। दूसरे धर्म अल्पप्रयत्नसे संगठित हो सकते हैं। परन्तु हिन्दु नहीं हो सकते। हाँ! वे स्वभावतः सहजहीसे विभक्त हो सकते हैं। उन्हें एकत्रित करना महा प्रयासका काम है, तथा उसके करनेके लिये भगीरथ प्रयत्नोंकी आवश्यकता है। इसीलिये केवल हिन्दुओंकोही एकत्रित करके उनमें एक अविभक्त जीवन निर्माण करना चाहिये। आजके हिन्दु एक तो अपनेही वर्गविशेषका हित देखते हैं, अथवा एकदम आकाशमें चढकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भूमिकासे बोलना प्रारम्भ करते हैं। इन दो अवस्थाओंमें भी कुछ सीढियाँ हैं, यह सीधी बात उनके ध्यानमेंही न आती। 'वसुधैव कुटुम्बक' वृत्तिका अनुभव यदि करना हो, तब फिर 'हम सब हिन्दु एक हैं।' यह भावना जागृत होना अत्यन्त आवश्यक है। उसके न होनेसे इस समय असंघटित हिन्दुओंका निर्भय जीवनसे जीना भी दूभर हो गया है।

'हिन्दु' और 'आपसकी फूट' में एक उपयुक्त तथा बोधप्रद श्लेष है। 'हिन्दु' यदि सीधी तौरसे बर्ताव करते रहे, तो फिर वे हिंसासे दूर रहकर वसुधामात्रको अपने धर्माचरणसे अपना कुटुम्ब बना लेंगे। परन्तु यदि उन्होंने विरुद्ध बर्ताव किया, तब तो हिन्दुओंकाही 'आपसकी फूट' में रूपान्तर हो जायगा। और उन्हें जीना भी मुश्किल होगा। अर्थात् यदि हिन्दुओंके बर्तावकी पद्धति सीधी रही, तब वे संगठित होकर विश्वके मार्गदर्शक हो सकेंगे। परन्तु यदि उनकी वह पद्धति उलटी रही तो फिर आपसकी फूटसे वे शतधा विदीर्ण हो जावेंगे, और अपना नाश स्वयंही कर लेंगे। इस दृष्टिसे यह शब्द विशेषही बोधप्रद है। यदि हिन्दु इसका विचार करेंगे, तो फिर उन्हें अपने उन्नतिपथका दर्शन हुवे बिना नहीं रहेगा।

आज हिन्दुओंमें भयानक फूट दिखाई दे रही है। यहांतक कि स्वयं हिन्दुही आपसमें संगठन न हो, इसलिये प्रयत्नशील हैं !!! संसारभरमें किसी भी धर्मका ऐसा कोई अनुयायी न होगा, जो कि आपसी संगठनका द्वेष करता हो! एक हिन्दुजातिमेंही ऐसे लाख पैदा हुवे हैं, जो कि हिन्दुसंगठन फूटी आँखोंसे भी देखना नहीं चाहते। समय समयपर हिन्दुसंघटनका निषेध करनाही उनका व्रत हो बैठा है। इस फूटकी मर्यादा यहांतक पहुँच गई है कि हिन्दुओंमेंही हिंदू-संगठनके शत्रु निर्माण हो गये हैं!

कुच्छ लोग सर्वधर्मीय लोगोंका संगठन करनेके लिये उद्युक्त हो गये हैं। मान लिया, कि उनका हेतु स्तुत्य है। परंतु यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि एक सुसंगठित तथा दूसरा असंगठित ऐसे दो समाजोंका संगठन करनेका यत्न यदि किया जाय, तो अवश्यही उसमेंके असंगठित समाजको हानि पहुंचेगी। ईंटके टुकडे और काले पत्थरकी गिट्टी इन्हें झोलेमें इकट्ठे रखकर यदि हिलाने लगें, तो ईंटके टुकडोंका चूर्ण हुवे बिना नहीं रहेगा। बस

ठीक वही अवस्था इन लोगोंकी हो रही है, जो कि सर्व धर्मोंका संगठन करना चाहते हैं। अन्यधर्मीय सब समाज उत्तम रीतिसे सुसंगठित हैं, केवल हिन्दु-समाजही फूटसे व्याप्त होनेके कारण सर्वथा असंगठित है। इस कारण जहां भी सर्व-धर्मीय संगठन करनेका प्रसंग निर्माण किया जाता है, वहां इस फूटके कारण हिन्दुओंकाही अपरिमित नुकसान होता हुवा दिखाई देता है।

इसलिये प्रथम राष्ट्रका प्रत्येक समाज सुसंगठित करनेके पश्चात् इन समाजोंमें सख्य निर्माण करनेका यत्न करना चाहिये। तबही यह सख्य बलवान् हो सकता है। आज हिन्दुस्थानमें हिन्दु, मुसलमान तथा क्रिश्चन ये तीन समाज हैं। इनमें मुसलमान और क्रिश्चन ये दो समाज अच्छे संगठित हैं। ये समाज एक ईश्वर, एक पैगंबर तथा एक धर्मपुस्तक माननेवाले हैं। इसलिये इन लोगोंमें इन विषयोंमें मतभेद होनेकी कोई संभावना नहीं है। जातिभेद इनमें हैही नहीं। इसीलिये ये दो समाज संगठित हैं। परन्तु इधर हिन्दुओंकी दुर्दशा देख लीजिये।

ईश्वरविषयक मतभेद

हिन्दुओंमें ईश्वरविषयक अनेक मतभेद हैं। जैन तथा बौद्ध ये निरीश्वरवादी हैं। सिक्ख भी देवतापूजन न करते हुवे ग्रन्थपूजन करते हैं। सांख्योंमें भी निरीश्वरवादी सांख्य नामक एक प्रकार है। ईश्वर माननेवालोंमें भी कई विष्णुलोकमेंके विष्णुको मानते हैं, कई शिवलोकके शिवको। कई गोलोकके गोमाताकी उपासना करते हैं, तो कई अन्यान्य-लोक-निवासी अन्यान्य-देवताओंको भजते हैं। दूसरे कई ईश्वरको सर्वभूतोंमें व्यापक तथा ईश्वरमें भूतमात्र मानते हैं, तो कुछ लोग विश्वको ईश्वररूप मानकर सर्वात्मभावका स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हिन्दुओंमें कई ईश्वरविषयक कल्पनाएँ प्रचलित हैं। शैव तथा वैष्णवका विग्रह तो धर्मका क्षेत्र व्यापकर व्यवहारमें भी आ बसा है।

यह हुवा ईश्वरकी कल्पनाके बारेमें। अब इसके बाद छोटे बडे कई दैवत हैं, और प्रत्येक देवताभक्त अपनी देवताकाही विचार करता है, इसलिये सर्वव्यापक ईश्वरकी ओर ध्यान देनेके लिये भी इन लोगोंके पास समय नहीं है। फिर भला वे अन्य देवताओंका विचार क्यों करेंगे? लिंगायत, शैव, वैष्णव, गाणपत्य, शाक्त, इत्यादि कई भेद प्रसिद्धही हैं। शैव तथा वैष्णवोंका तंटा मिटानेके लिये हरि-हर देवताओंका ऐक्य दर्शानेके हेतुसे हरिहरकी मूर्ति बनाई गई। परन्तु जिस हेतुसे यह कृत्य हुवा, वह साध्य न होकर हरिहर यह एक तीसराही दैवत बना! तात्पर्य, ऐसे छोटे, बडे, प्राचीन-अर्वाचीन, स्वकीय-परकीय अनेक दैवत हिन्दुओंकी फूट बढानेके काममें आ रहे हैं।

प्रमाण-ग्रंथोंसे मतभेद

धर्मग्रंथोंके कारण हिन्दुओंमें जितने मतभेद होगये हैं, उतने अन्य धर्मोंमें शायदही हुवे होंगे। वेद सब हिन्दुओंके लिये पूजनीय आद्य धर्मग्रन्थ है। परन्तु उस एक वेदके ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद ऐसे चार भेद हो गये। ऋग्वेदके आश्वलायन, शाकल, बाष्कल तथा शांख्यायन; यजुर्वेदके तैत्तिरीय, माध्यन्दिन, काण्व, मैत्रायणी, काठक, कपिष्ठल कठ; सामवेदके कौथुमी, राणायणी, जैमिनी; तथा अथर्ववेदके शौनक और पिप्पलाद ऐसे भिन्न भिन्न प्रवाह हुवे।

वस्तुतः इनमें द्वैतभाव निर्माण होनेका कोई कारण नहीं। तथापि कई क्षेत्रोंमें वेदाध्यायी वैदिकोंमें ऐसे पक्षोपपक्ष निर्माण हो गये हैं कि उन सबका एक जगह बैठकर मंत्रपाठ भी करना अशक्य होगया है। महाराष्ट्रमें पेशवाओंके राज्यमें बडी बडी सभाएँ होकर ये तंटे सुलझाए गये थे। परन्तु आज फिरसे वही आपत्ति निर्माण हो गयी है।

इसके बाद श्रौत तथा गृह्यसूत्र ग्रंथ, अठारह पुराण, उतनेही उपपुराण, अनेक आधुनिक आगमग्रन्थ, अत्यंत अर्वाचीन ऐसे दूसरे सैकडों ग्रन्थ, इन सबका एकेक पंथ निर्माण होकर एक दूसरेसे कोई संबन्ध नहीं रखता, ऐसी स्थिति आज निर्माण हो गई है।

कई लोगोंने आपसी ऐक्यमत्य करनेके लिये आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, देवसमाज, थिऑसोफी इत्यादि नई संस्थाएँ खोलकर प्रयत्न किये। और भी कई संस्थाएँ प्रत्येक प्रान्तमें मौजूद हैं। यद्यपि इनका यह

उद्देश था कि सबका ऐकमत्य किया जाय, तथापि ऐकमत्य तो दूर रहा, किन्तु यह प्रत्येक संस्थाका एक नया पंथ बनकर आपसका विद्वेष औरही बढ रहा है।

ग्रंथोंका विचार करते समय उनकी टीकाओंका भी विचार करना चाहिये। गीताग्रन्थपर श्रीशंकराचार्य, मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्यकी टीकाएँ हैं। गीता यह ग्रन्थ वस्तुतः समाजमें नवचैतन्य निर्माण करनेके लिये निर्माण हुवा। परन्तु चार आचार्योंके इन चार भाष्योंसे उस एक समाजमेंही चार विभिन्न पन्थ निर्माण हो गये !!!

प्रमाण ग्रंथोंके कारण निर्माण हुवे हुवे मतभेदका इतनाही दर्शन पर्याप्त है। अब हमें यह देखना है कि, गुरु, पन्थस्थापक तथा आचार्य इनके कारण कैसे कैसे भेद हो गये हैं।

आचार्य और गुरुके कारण मतभेद

यद्यपि वेदकालीन अनेक ऋषि आज मतभेदके कारण नहीं हो सकते, तथा वसिष्ठ वामदेवका समय भी बीत चुका है, तथापि उपरि कथित चार आचार्य तथा अन्य साधुसन्तोंके कारण निर्माण हुवे पन्थ प्रगतिपथके रोडे हो बैठे हैं।

उदाहरणार्थ नाथपन्थ, दादूपन्थ, कबीरपन्थ इत्यादि पन्थोपपन्थ अपनी शक्तिका उपयोग पहलेहीके भेदोंको बढानेमें कर रहे हैं। यद्यपि इन पन्थोंमें तत्त्वतः वैसा कोई विशेष भेद नहीं है, और ये सब मनुष्यको सन्मार्गकी ओर बढानेमें प्रयत्नशील हैं, तथापि पन्थभेद निःसंदेह बढ गये हैं।

खिश्चन तथा मोहमदीय धर्मके एकही ईश्वर, एक पैगंबर और एक धर्मग्रंथ होनेसे उनमें आपसमें मतभेदका कोई विशेष कारण नहीं। तथापि हिन्दुधर्म देवता, प्रमाणग्रन्थ, पन्थ और गुरुसंप्रदायके कारण शतधा विदीर्ण हो बैठा है। और जातिभेद भी हिन्दुधर्मका स्वभावसा हो चुका है। इस जातिभेदके कारण तो जिनमें परिवर्तन होना दुष्कर है, ऐसे जन्मतः भेद निर्माण हो रहे हैं।

चार वर्ण ये एकही पुरुषके चार अवयव हैं, यह है मूलकी एकत्वप्रधान कल्पना। परन्तु उसका लोप होकर आज दो तीन सहस्र जातियोंकी गडबड हो गयी है। एक मुख्य जातिमेंही अनेक उपभेद हो चुके हैं। वंश, प्रान्त, व्यवसाय, भोजन, प्रावरण, पहाड, नदी, नाले तथा दूसरे कई कारणोंसे जो भेद निर्माण होते गये, वे आज पक्के होकर उनका आपसमें रोटी और बेटी-व्यवहार भी नहीं होने पाता। ऐसा देखा गया है कि एकही जातिके लोग नदीके दोनों तटोंपर रहते हैं। परन्तु इसलिये कि वे इस तटपर और वे उस तटपर रहते हैं, उनमें रोटीबेटी-व्यवहार बंद है !

कुछ जातियाँ पूर्णतः अस्पृश्य हैं, कुछ अर्ध अस्पृश्य हैं, और कुछ संस्कारोंसे स्पृश्य मानी गई हैं। स्पृश्य जातियोंमें भी स्नानके पहले अस्पृश्य, स्नानके बाद स्पृश्य और कुछ विशेष कारणसे अस्पृश्य ऐसे भेद माने गये हैं। कुछ जातियोंका तो दृष्टिदोष माना जाता है। मासिक रजोदर्शनके निमित्त चार दिनतक स्त्रियाँ अस्पृश्य हैं, यह अस्पृश्यता आरोग्यशास्त्रसे संबन्धित होनेसे शास्त्रीय है। स्नान किया हुवा अस्नातको अस्पृश्य मानता है, किन्तु यह अस्पृश्यता सार्वत्रिक है। बहुधा एक जातिका दूसरीके साथ रोटीबेटी-व्यवहार न होनेसे हिन्दुओंमें सहकार्य कम तथा फूट अधिक ऐसी स्थिति सर्वत्र हो गयी है।

सनातनी विद्वान् इस मतपर सुदृढ हो बैठे हैं, कि कुछ जातियोंकी अस्पृश्यताही हिन्दुधर्मका वैशिष्ट्य है, तथा इस अस्पृश्यताके हट जानेपर हिन्दुधर्म डूब जायगा। जातिभेदका इतनाही विचार पर्याप्त है। और चर्वित चर्वण करनेकी कोई आवश्यकता है नहीं।

कुछ जातियाँ धंधेके निमित्त बने हुवे संघ हैं। उनकी विभिन्न रीतियोंका शास्त्रीय दृष्टिसे समर्थन भी हो सकता है। तथापि कुछ भी हो, यह जाति-व्यवहार आज हिन्दुओंके हितको निःसंशय घातक हो रहा है।

आज यदि संगठनकी दृष्टिसे विचार किया जाय, तथा हिन्दुओंका संगठन तत्काल होना चाहिये ऐसी परिस्थिति निर्माण हुई हो, तो फिर इसमें कोई संदेह नहीं कि सद्यःकालीन वर्णव्यवस्था–जातिव्यवस्था तथा कर्मव्यवस्था इस संगठनको बाधक हो बैठी है। हिन्दुओंमेंसे परधर्ममें जानेका मार्ग खुला है। तथापि किसी 'एक व्यक्तिको' हिन्दुधर्मका द्वार बन्द है। आज जब कि सत्य-असत्यका निर्णय संख्याके बलपर किया जा रहा है, यह परिस्थिति कोई लाभदायक नहीं है। इससे हिन्दुओंका संख्याबल प्रतिदिन घटते आ रहा है, यह बात निश्चित है।

हमने ऊपर जो विधान किया है कि 'किसी एक व्यक्तिको हिन्दुधर्मका द्वार बन्द है' वह हेतुपूर्वक है। आज हिन्दुओंमें जातिके अनुसार गुट बने हुवे हैं, जिनका अन्य गुटसे कोई विशेष संबंध नहीं रहता। इसलिये यदि हिन्दुधर्ममें बाहरी लोग बडी संख्यामें गुटके गुट आगये, तो उनकी एक स्वतंत्र जाति बनकर हिन्दुधर्ममें सुखपूर्वक रह सकती है। मुख्य कठिनाई है विवाहसम्बन्धकी। वे विवाह उस जातिमें आपसमें हो सकेंगे। इतनी बडी संख्यामें कोई जाति हिन्दुधर्ममें आ सकती है। वे चाहे जो नियम पालें। आपसमें भोजन-व्यवहार तथा विवाह करें और अपनेको हिन्दु कह कर रहें। संघशः हिन्दु-जातिमें आनेको कभी भी प्रतिबन्ध नहीं था। ऐसे गुट हिन्दुधर्ममें प्रविष्ट होनेसे हिन्दुओंके अन्य जाति-योंको कोई कष्ट नहीं पहुँचता। प्रत्येक जातिका अन्तर्गत स्वातंत्र्य पूर्णतया अबाधित रह सकता है, तथा आनेवाली जातिको भी अपने नियमाचार छोडनेकी और नवीन कुछ उठानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। सांप्रत आर्यसमाज, देव-समाज, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, तथा सिक्खसमाज, इन्होंने वैयक्तिक शुद्धिकरण प्रारम्भ किया है। परन्तु एक सिक्खसमाज छोडकर ऐसा दूसरा कोई समाज नहीं है, जिसने कि ऐसा कोई ध्यान देनेयोग्य शुद्धिकार्य किया हुवा प्रसिद्ध हुवा है। सिक्खोंके बाद आर्यसमाजने भी धर्मपरिवर्तनका कार्य किया है। एक सिक्खोंको छोडकर दूसरोंको शुद्धिकृतोंका विवाह-सम्बन्ध अतिशय कष्टदायी जान पडता है। इसलिये यह परिवर्तनका कार्य यशस्वी नहीं होने पाता। फिर भी इन समाजोंने हिन्दुओंके भेदोंको दूर हटाया है, इसलिये इनमें वैयक्तिक धर्म-परिवर्तन हो सका है। तथापि इनके इस व्यवहारका सर्व-साधारण हिन्दुसमाजपर कोई विशेष परिणाम नहीं दिखाई दिया।

हिन्दुसमाजका दोष

हिन्दुसमाजकी वर्णाश्रम-व्यवस्था शास्त्रीय है, और उससे वैयक्तिक स्वातंत्र्यको परिपूर्ण अवसर मिल सकता है, यह बात सत्य है। तथापि इस व्यवस्थाके कारण संघ-शक्तिकी वृद्धि कठिन हो गयी है, यह बात अमान्य करनेसे काम न चलेगा। आजतक अनेकोंने हिन्दुसंघटना करनेका उपक्रम किया। परन्तु वे आजतक यशस्वी नहीं हुवे हैं। बाह्य आपत्तिके कारण दिखावटीका संगठन होता है, तथापि वह बाहरी आपत्तिकी आग कम हुई कि फिरसे फूट अपना प्रताप दिखाती है। ऐसा यह क्रम सैकडों वर्षोंसे चलता आ रहा है।

यह दोष हिन्दुओंकाही होनेसे उन्होंनेही इसका उपाय करना चाहिये। मुख्यतः उनके इस फूट और फितुरीके कारणही हिन्दुस्थान परतंत्र हुवा है। खिस्ताब्द १८१८ में महाराष्ट्र परतंत्रताके बंधनोंमें फंसा, तथा १८५७ के स्वातंत्र्ययुद्धके अपयशका बहुत बडा हिस्सा इनकी इस फूटके मारे इनकेही पल्ले पडता है। दूसरे राज्योंने पराई-योंको विशेष प्रतिबन्ध न करते हुवे अपने अधिकार उनके हाथोंमें पहलेही सौंप दिये थे। इस बातकी ओर एक दूसरे राजकीय दृष्टिकोनसे देखा जाय तो ये दूसरे राज्य निर्माण हुवे कैसे? हिन्दुओंकेही आपसी फूटके कारण जो दूसरे धर्ममें प्रविष्ट हुवे, उन्हींका यह खेल है, तथा वेही आज भारतकी स्वतंत्रतामें बाधा निर्माण कर देशके टुकडे करनेपर उतारू हो गये हैं। हिन्दुधर्मसे दूसरे धर्मोंमें जानेवाला यह प्रवाह अद्यापि कम नहीं हुवा है। इन सब घटनाओंका कारण हिन्दुओंकी आपसी फूट है।

तस्मात् इस दोषका प्रायश्चित्त हिन्दुओंकोही करना होगा। अपनी संघटनाके लिये उन्हेंही प्रयत्नशील होना होगा। हिन्दुओंकी संघटनाको कोई दूसरा सहाय्य न करेगा। और यदि उसने सहाय्य करनेका सोचा भी तो भी वह असंभव है।

परधर्मीयोंको न लेना चाहिये

ऊपर कहा गया है कि राजकीय, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रमें हिन्दुओंके दोषके कारणही वे संगठित न हो सके। तब फिर जिसका यह दोष है वही उसे सुधार-नेका यत्न करे। परधर्मीय लोग इसलिये क्यों कष्ट करें? और उन्होंने करना भी न चाहिये, क्योंकि इससे उनको कष्टही मिलेंगे? इस संबंधमें एक मनोरंजक बोधप्रद संवाद नीचे दिया जा रहा है।

एक बार हिन्दु, मुसलमान और खिश्चन ऐसे तीनों धर्मोंके कुछ लोग इकट्ठे बैठे थे, उनमें संवाद हुवा—

हिन्दु—आईये, हिन्दु, मुसलमान तथा खिश्चन बन्धुओं, हम लोग संगठन करेंगे। क्योंकि हम लोग इसी देशके निवासी

हैं। और संगठनमें बड़ा बल होता है।

मुसलमान— आपके संगठनका मतलब हमें समझा दीजिये।

हिन्दु— मतलब यही कि हम लोगोंमें कई जातियाँ हैं, उनमें प्रेम बढ़ाना है।

मुसलमान— हमारेमें कोई जातियाँ नहीं हैं। प्रेम तो हममें पहलेसे मौजूद है। जबतक आप अपना सुधार नहीं करते, तबतक हमें कोई आवश्यकता नहीं है, कि हम तुम्हारे अन्दरूनी झंझटोंमें पड़ें। आप अपनी सुधार कर लीजिये, और फिर हमें बुलाइये। हम हाजिरही हैं।

ख्रिश्चन— (वही, जो ऊपर कहा है)

हिन्दु— हम लोगोंमें अनेक देव, देवता, पन्थ, तथा आचार्य हैं। इन विषयोंमें एकवाक्यता करनी चाहिये, आइये, हम इस विषयोंमें कुछ प्रयत्न करें।

मु० तथा ख्रि०— हम एक ईश्वर, एक ग्रन्थ तथा एक आचार्यको मानते हैं। आपही आपके समाजमें जो कुछ करना है कर लीजिये। आपका एक मत होनेके बाद हमें बुलवा लीजिये।

हिन्दु— एकत्रित रोटीव्यवहार हो इसलिये हम सह-भोजन कर रहे हैं, जातपात तोड़क समितियाँ स्थापित कर रहे हैं, जरा देखिये तो!

मुसलमान— आप अधिकसे अधिक क्या करेंगे? एक पंक्तिमें बैठेंगे। वह भी आपको अभीतक साध्य नहीं होता। यही हमारी ओर देख लीजिये। हम सब एकही थालेमें भोजनकर लेते हैं। आप हमें क्या पढ़ावेंगे? तुम्हारे पास आनेसे हम लोगोंमें फूटही पैदा होगी। जब तुम ब्राह्मणसे लेकर चमारतक सब एक थालीमें बैठकर भोजन करोगे, तब हमें बुला लेना।

यह सब सुनकर हिन्दुको बेटीव्यवहारके सम्बंधमें कुछ बोलनेका साहस भी न हुवा।

मुसलमान तथा ख्रिश्चनको पढ़ानेलायक बात हिन्दुओंके पास कोई है नहीं। इसलिये उन्हें संगठनके लिये बुला कर उन्हें संगठनमें सम्मीलित करना इसका अर्थ है उनका अमूल्य समय व्यर्थ खो देना। जो पहलेसे संगठित हैं, जिनकी स्थितिके पास पहुँचना भी हम लोगोंको कठिन हो गया है, उन्हें हमारे घरेलू आन्दोलनमें बुलानेसे उन्हें क्या लाभ होगा? इसलिये हिन्दुओंने अपना संगठन आन्दोलन स्वयमेव करना चाहिये। किसीको सहायके लिये बुलानेकी आवश्यकता नहीं है।

राष्ट्रीय सभा इसमें सहायक न होगी

हमारी राष्ट्रीय सभा (काँग्रेस) केवल हिन्दुओंकी अथवा सवर्ण हिन्दुओंकी संस्था तो है नहीं। वह अखण्ड भारतीय संस्था है। हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, पारसिक, यहुदी, जो भी कोई इस देशमें जन्म पाकर इस देशको मातृभू अथवा पितृभू मानते हों, जो इस देशकी उन्नतिके लिये यत्नशील हों, उन सर्व धर्मोंके अनुयायीओंकी वह संस्था है। सर्व हिन्दी लोगोंके हितपालनमें तत्पर रहनाही राष्ट्रीय सभाका कर्तव्य है। यही कर्तव्य आजतक उसने किया है, और आगे भी करेगी। किसी एक जातिकी ओर ध्यान पहुँचाना उसे न तो इष्ट है, न शक्य है।

यद्यपि राष्ट्रीय सभा किसी एक जातिके विषयमें कुछ कर नहीं सकती, तथापि इसने केवल हिन्दुओंनेही करनेयोग्य ऐसा अस्पृश्यताका निवारण-कार्य करके हिन्दुओंपर महदुप-कार कर रखे हैं। परन्तु हिन्दु-संगठनकी ओर इससे अधिक ध्यान पहुँचाना इसके लिये असंभव है, और हिन्दुओंने भी इनसे अधिक आशा न करनी चाहिये। हिन्दुओंको स्वयंही वह भार उठाना चाहिये। राष्ट्रीय सभाने अस्पृश्यता-निवारणका सूत्रपात करके हिन्दुओंको यह बता दिया है कि संगठन किस पद्धतिसे किया जाय। अब आगेका काम हिन्दु किया करें।

हिन्दु राष्ट्रमें करीब करीब २३ कोटि असंगठित हिन्दु हैं, और दूसरे लोग १० कोटि भी नहीं हैं। तीन चतुर्थांशसे अधिक होते हुवे भी हिन्दु-जाति फूटसे ग्रस्त होनेके कारण राष्ट्रीय सभाको भाररूप हो बैठी है। यही जाति यदि सुसंगठित और अनुशासनशील होती, तब तो राष्ट्रीय सभाकी योजनाओंको प्रत्यक्षमें लाकर आजतक हिन्दुस्थान स्वतंत्र हो गया होता। हिन्दुओंका आन्तरिक असंगठनही हिन्दुस्थानके स्वातंत्र्यका तथा राष्ट्रीय सभाके नियोजित कार्यक्रमके मार्गका एक बड़ा भारी रोड़ा बन बैठा है। इसलिये हिन्दुओंने अपना संगठन करते हुवे, कमसे कम अन्य जातिओंके समान तो भी संगठित होवे

हुवे अनुशासनमें रहकर राष्ट्रीय सभाके कार्यक्रम प्रत्यक्षमें लाने चाहिये ।

यदि राष्ट्रका तीन चतुर्थांश समाज असंगठित होकर केवल बचा हुवा एक चतुर्थांशही सुसंगठित हो, तो फिर उस राष्ट्रका हित कौन कर सकता है ? सुसंगठित समाजही राष्ट्रकी उन्नति कर सकता है, इसलिये हिन्दुसंगठन जातीय न होते हुवे शुद्ध राष्ट्रीय है । राष्ट्रके तीन चतुर्थांश लोगोंको संगठित करनेका काम अराष्ट्रीय तथा जातीय कैसे हो सकता है ?

काश्मीर और हैद्राबाद

उदाहरणके लिये देखिये । हमारे सामनेकीही बात है। काश्मीरमें ८५ प्रतिशत मुसलमान हैं, और १५ प्रतिशत हिन्दू हैं । इधर दक्षिण हैदराबादमें ८८ प्रतिशत हिन्दु हैं और १२ प्रतिशत मुसलमान हैं । दोनों संस्थानोंमें स्वराज्यका आन्दोलन चल रहा है । परन्तु परिणामकी ओर जरा ध्यान पहुंचाइये—

मुसलमान संगठित होनेसे काश्मीरमें उन्होंने स्वराज्य करीब करीब प्राप्तही कर लिया है । परन्तु हैदराबादके हिन्दु असंगठित होनेसे वहांके राजकीय क्षेत्रमें वे अभी-तक सामान्य सुधारभी न कर सके। हिन्दुओंका असंगठन इस प्रकार देशके प्रगति-पथका संकट बन बैठा है ।

त्रावणकोरमें ईसाई लोग मुसलमानोंके समानही संगठित तथा अधिक पढे लिखे हैं । इस कारण उस संस्थानकी राज्यव्यवस्थामें उन्हींका मत प्रभावी है । परन्तु निजाम हैदराबादके हिन्दु बहुसंख्य होते हुवे भी अपढ और असंगठित होनेसे उनके मतको कोई मूल्य नहीं है । यह दोष हिन्दुओंके असंगठनके कारण निर्माण हुवा है । इसलिये हिन्दुओंकी संगठना एक राष्ट्रीय प्रश्न है । जातीय कहकर उसे टाल देनेसे काम नहीं चलेगा । किसीभी राष्ट्रकी इतनी बडी जनसंख्याको सुसंगठित तथा स्वसंरक्षणक्षम बनाना यह काम कदापि अराष्ट्रीय नहीं है ।

संगठनकी मर्यादाएँ

प्रत्येक समाजको अपना संगठन करनेका स्वयंभु अधिकार है । अपनेपर दूसरे किसीका आक्रमण न हो' ऐसी व्यवस्था करना, तथा अपना बचाव करनेका भी काम स्वयमेव करना इतना अधिकार प्रत्येक समाजको है। यह अधिकार किसीके दानसे मिला नहीं, पर प्रत्येक समाज जन्मसेही स्वयमेव इसका अधिकारी है ।

अपना संरक्षण करनेकी शक्ति निर्माण करना और अपने संरक्षणका भार किसी दूसरेपर न डालते हुवे स्वयं उठाना, यह प्रत्येकका कर्तव्य है । जो दूसरोंपर निर्भर रहा, उसका कार्य असफल होता है, यह सन्तोंका अनुभव है । हिन्दु कई वर्षोंसे इसको अनुभवित कर रहे हैं । सरकार हमारा संरक्षण करेगी, ऐसा सोचकर हिन्दु अपने संगठनकी ओर ध्यान नहीं दे रहे । परन्तु कोई भी सरकार हो, वह प्रत्येक मनुष्यकी चारों ओर संरक्षणकी दीवारें तो नहीं खडीं कर सकती, यह तो हर कोई समज सकता है ।

गुण्डे बलवा करते हैं। उन्हें शस्त्रबन्दी होते हुवेभी छूरे, पिस्तौल, लाठी इत्यादि साहित्य मिल सकता है । इन साधनोंसे वे लूटमार और बलवा करते हैं, आग लगा देते हैं । चाहे जो चीजें लेकर वे निकल गये कि फिर सरकारके रक्षक उपस्थित होते हैं, और 'अब जो हुवा सो भूल जाइये,' ऐसा कहना शुरू हो जाता है । सब बलवोंका यही इतिहास है । चाहे सरकारके रक्षक आयँ, चाहे न आयँ, प्रत्येक गलीके तरुणोंने अपनी गलीका रक्षण करनाही चाहिये । इतनी संरक्षण–क्षमता तो उन लोगोंमें होनीही चाहिये । अन्यधर्मीय लोगोंके पास यह शक्ति है। इन सब उत्पातोंमें हिन्दुसमाजही असंगठित होनेसे वह अपना संरक्षण करनेमें असमर्थ है, ऐसा दिखाई पडा है । अलीगढ और अहमदाबाद ये दो उदाहरण देखने-योग्य हैं । कलकत्तेमें तो लीग गवर्मेन्टने पाकिस्तान होनेपर हिन्दुओंकी कैसी अवस्था होगी, यह प्रात्यक्षिक-ही बता दिया है ।

हिन्दुओंने इन बलवोंका खूब विचार करना चाहिये । तथा इनसे उचित बोध भी लेना चाहिये । यदि ये बलवे हिन्दुओंको स्वसंरक्षणक्षमताका पाठ पढानेमें असमर्थ रहे, तो फिर यह पाठ कौन पढायगा यह समझना कठिन है ।

स्वसंरक्षण करना इसका अर्थ यह नहीं कि दूसरोंपर आक्रमण करना । जिस प्रकार अपना संगठन करनेका

अधिकार हिंदुओंको है, उसी प्रकार वह ईसाई तथा मुसलमानोंको भी है। परन्तु लीगके अनुयायी आक्रमक वृत्तिका स्वीकार कर इस अधिकारका दुरुपयोग कर रहे हैं, यह उनका महान् दोष है।

दूसरोंपर आक्रमण न करनेकी मर्यादा प्रत्येक समाजकी संगठनामें अवश्य सम्हाली जानी चाहिये। यदि कोई समाज इस मर्यादाका पालन न करता हो तब उसे अवश्य दोषी समझना चाहिये। लीगको छोडकर दूसरा कोई आज आक्रमक वृत्तिका स्वीकार रकरता हुआ नहीं दिखाई देता। इसलिये राष्ट्रीय दृष्टिकोनसे लीग बडी भारी गलती कर रही है। परन्तु लीगने गलती की, इसलिये हिन्दुओंने भी अपना संगठन न करना चाहिये, यह युक्ति सर्वथा अयोग्य है। जिस समाजका जो दोष हो, वह उसने सुधारना चाहिये।

पक्षनिरपेक्ष संगठन

प्रत्येक समाजको अपना संगठन करनेका स्वयंभू अधिकार है, यह मान लेनेपर वह संगठन पक्षनिरपेक्ष होना चाहिये, यह क्रमप्राप्तही है। दूसरे समाज हैं और वे हिन्दुओंपर आक्रमण करते हैं, इसलिये हिन्दुओंको संगठित हो जाना चाहिये यह युक्तिवाद व्यर्थ है। यद्यपि दूसरे समाज न हों तथा उनका आक्रमण भी न हो, तथापि हिन्दुओंको संगठन करना अत्यावश्यक है। संगठन यह जीवनका प्रधान सूत्र है, और उसका संबन्ध अपने अस्तित्वसे है। जो भी यह चाहता है कि मेरा अस्तित्व बना रहे, उसने अपनी संगठन शक्ति बढानीही चाहिये। किसी प्रान्तमें दूसरे धर्मके लोग न हों, तो भी वहाँके हिन्दुओंने संगठित हो जाना चाहिये, असंगठित अवस्था ही मृत्यु है। वह यदि टालनी हो तब तो संगठित होना अनिवार्यही है।

हिन्दुओंका संगठन यह पक्षनिरपेक्ष होनेसे वह करते समय हिन्दुओंने अपने आतिकाही विचार करना चाहिये। किसीका द्वेष करनेका कोई कारण नहीं है। जो इस देशके निवासी हैं, उन्हें अपने देशबन्धु मानकर दूसरे धर्मोंके अनुयायियोंसे हिन्दुओंने भाई जैसा बर्ताव करना चाहिये। जो कोई आक्रमण करते हों, उनके उस आक्रमणसे बचनेके लिये भी इस हिन्दु-संगठनका उपयोग होगा। स्वसंरक्षणका अधिकार तो निर्विवाद ही है। स्वसंरक्षणका अर्थ दूसरोंपर आक्रमण नहीं है।

हिन्दुओंका संगठन किसी भी समाजके द्वेषपर खडा नहीं है। और वैसा करनेके लिये कोई कारण भी नहीं है। मनुष्य स्वयं आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत करे और दूसरेको करने दे। दूसरोंने अथवा अन्तर्गत हितशत्रुओंने यदि आक्रमण करना प्रारम्भ किया, तो उसका प्रतिकार करके अपना समाज सुरक्षित रखनेके लिये संगठनकी आवश्यकता है। अर्थात् संगठन दूसरोंके द्वेषपर आधारित न होते हुए उसका अपने सुरक्षित जीवनसे सम्बन्ध है।

समतासे मित्रता

हमें सर्व देशबान्धवोंमें सम भाव स्थापन करके उनमें मित्रता करानी है। हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, पारसिक, यहुदी इत्यादि सब बान्धवोंमें ऐक्य निर्माण हो और वह बढता रहे, यही हमारी प्रबल इच्छा है। अन्य सब धर्मोंके समाज अत्यन्त सुसंगठित हैं। केवल हिन्दूही असंगठित हैं। इस कारण दूसरे समाजोंसे हिन्दु समाजकी समानता न होनेसे उनमें मित्रता नहीं होने पाती। दूसरे कई यह सोचते हैं कि हिन्दु अपना संरक्षण नहीं कर सकते, इसलिये वे दूसरोंकी दयापर जीयें। यदि हिन्दु अपनी संघशक्तिके बलपर जी सकते हैं ऐसा अनुभव दूसरोंको आ गया, तो उनके भी मनमें हिन्दुओंके विषयमें आदरभाव निर्माण होगा, और उसके बाद उनकी आपसमें मित्रता भी होगी। श्रीमान्‌का मित्र श्रीमान्, वीरका मित्र वीर, समर्थका मित्र समर्थ तथा संगठितका मित्र संगठितही हो सकता है। संगठित समाजका असंगठित समाजसे जुडा हुवा सम्बन्ध टिकना संभवनीय नहीं है। इसलिये यदि हिंदुस्थानके भिन्नधर्मीय समाजोंमें मित्रता स्थापित हो, यह प्रामाणिक इच्छा है, तो हिन्दुओंको संगठितही होना चाहिये। जबतक कि हिन्दु असंगठित हैं तबतक अन्य जातियोंसे उनका स्नेहसम्बन्ध कदापि निर्माण नहीं होगा। प्रत्येक समाजको अपने संगठनका अभिमान है, इसलिये वे हिन्दुओंकी ओर तुच्छतासे देखते हैं। इसलिये जबतक हिन्दुओंकी यह संगठनहीनतासे निर्मित दुर्बलता दूर नहीं होती, तबतक उनमें

और दूसरोंमें समानताकी भूमिकापर निर्माण होनेवाला स्नेहसम्बन्ध प्रस्थापित होना असंभवही है।

निर्बलताके कारण उत्पात

हमारे देशमें एक विशिष्ट धर्मकेही लोग बार बार उत्पात मचानेको क्यों प्रवृत्त होते हैं? हम इन्हेंही दोष दिया करते हैं। परंतु क्या यह सब दोष इन्हींका है ? वास्तवमें दोष कहां है ? दोष है हिन्दुओंके असंगठनमें, तथा हिंदुओंकी सामाजिक निर्बलतामें। यदि कोई समाज संगठनकी दृष्टिसे निर्बल हो,तो उसकी उस निर्बलताके कारण दूसरे समाजों-की स्वार्थ-बुद्धि बढने लगती है। और उस दुर्बल समाज-पर आक्रमण करके अपनी स्वार्थकी वृद्धि करनेका भाव उन समाजोंमें निर्माण होता है। इस प्रकार एक समाजकी निर्बलता और आपसी फूट दूसरे समाजकी नीति बिगाड-नेके काम आती है। इसपरसे यह ध्यानमें आ जायगा कि एक निर्बल समाज स्वयं अवनत तो होताही है, परन्तु दूसरोंको भी अवनत करता है। इसलिये दुर्बलता और असं-गठन यह महापाप है। दूसरे समाज हिन्दुओंपर आक्रमण करते हैं, इसका प्रधान कारण उन दूसरे समाजोंकी दुष्टता नहीं है, किन्तु वह है हिन्दु समाजकी असंगठित निर्बलता। यह दोष अपनेमें रखकर दूसरे समाजोंको दोष देते बैठना, यह इन आक्रमणोंके प्रतिबन्धका उपाय नहीं है। यह दोष हिन्दु समाजका है। अतएव हिन्दुओंका संगठनही एक-मात्र इन बलवोंको प्रतिबन्ध करनेका प्रधान उपाय है। जबतक हिन्दु असंगठित रहेंगे, तबतक बलवे होतेही रहेंगे। अन्य उपायोंसे उनका टलना असंभव है।

जिन्होंने हिंदु-संगठनको जातीय कहकर हिंदुओंको उससे हटा दिया, तथा आज भी जो हिंदुसंगठनका विरोध कर रहे हैं और हिंदुओंको असंगठित अवस्थामें रखनेका कारण हो रहे हैं, वेही इन बलवोंको उत्तेजन दे रहे हैं। जातीय बलवोंका प्रतिबन्ध करनेका एकही उपाय है। वह है हिंदुओंको अन्य समाजोंके समान सुसंगठित करना। दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

संगठनही अहिंसाका वास्तव पथ

दैवी सम्पत्तिमें अहिंसाकी गणना की जाती है। अहिंसा-का अर्थ किसीका घातपात न करना है। यदि यह सत्य है कि असंगठित समाजही अपनी अव्यवस्थाके कारण अन्य सुसंगठित समाजोंको उत्पात करनेमें प्रवृत्त करता है, तब फिर किसी भी समाजको असंगठित न रहने देनाही, अहिंसाको व्यवहारमें लानेका वास्तव उपाय है। राष्ट्रके सर्व व्यवहार यदि अहिंसावृत्तिसे चलाने हों, सब समाज यदि अहिंसाके मार्गसे सुरक्षित रखने हों, तब तो इन समाजोंको सुसंगठित, प्रतिकारक्षम और स्वसंरक्षणक्षम अवस्थामें रखना अत्यंत आवश्यक है। नहीं तो अहिंसाका अर्थ " शत्रुकी सुरक्षितता तथा हमारी हिंसा " ही हो जायगा। राष्ट्रमें किसी एक समाजने अहिंसाके लिये बलिदान करते रहना और दूसरेने उसे मारते जाना, इसका नाम कदापि अहिंसा नहीं है।

हमारे हिन्दुस्थान देशके सर्व समाज सुरक्षित रहने चाहिये तथा उन्नत होने चाहिये। उन समाजोंके एक भी मनुष्यने किसीपर आक्रमण करनेका साहस न करना चाहिये। इस स्थितिका नाम है 'अहिंसामय समाज-व्यवस्था। " आज अहिंसाका अर्थ हो गया है हिन्दुओंकी फूटके कारण निर्बलता और दूसरे समाजोंका उनपर आक्रमण। हिन्दुओंके हितकी तथा अखण्ड भारत राष्ट्रके हितकी ओर ध्यान पहुंचाते हुवे भी यह अहिंसा नहीं है। अपितु सच्ची राष्ट्रीय दृष्टिसे भी यह हिंसाही है।

राष्ट्रमें हिन्दु अथवा अन्य कोई भी मारा गया,तो उसका नाम हिंसाही होगा। राष्ट्रको जैसे हिन्दु, वैसेही मुसलमान और अन्यान्य समाज भी प्रियही हैं। वे सर्व समाज अहिंसाद्वारा सुरक्षित रहने चाहिये। सबोंकी सुरक्षितताका अर्थ है अहिंसा। एक समाज दूसरेपर आक्रमण करता रहे, उसे मारपीट करता, लूटता रहे और दूसरा उसे सहता रहे, लुटा जाता रहे और मरता रहे और तिसपर भी वह इस कल्पनासे संतुष्ट रहे कि हम अहिंसाका पालन कर रहे हैं, तथा आशा करता रहे कि ऐसी निर्बल लाचार अहिंसासेही उस आक्रमक समाजका मत-परिवर्तित होगा, तो यह अहिंसाका उपहास है! यह अहिंसा है नहीं और इस अहिंसाका पालन करना मानवका धर्म भी नहीं है।

प्रत्येक समाज सुसंगठित होकर अपना संरक्षण करनेमें समर्थ हुआ कि ऐसे समाजोंमें वास्तव मित्रता स्थापित होकर वे समाज आनन्दसे तथा सुख-समाधानसे रह

सकते हैं । यह समर्थोंकी अहिंसा है । यह सबल जीवनकी अहिंसा है । चूहे, अहिंसा वृत्तिका पालन करते रहें और बिल्ली उन्हें सफा करती रहे, इस व्यवहारमें चूहोंसे होनेवाली अहिंसा सच्ची अहिंसा नहीं है।

आज हिन्दु निर्बलोंकी अहिंसाका पालन कर रहे हैं । उन्होंने सबलोंकी अहिंसाके लिये सिद्ध हो जाना चाहिये। तथा उसके लिये अपना संगठन करना चाहिये । हिन्दुओंके संगठित होनेपर इस देशमें उत्पात होही नहीं सकते, तथा तभी देशमें सच्ची शान्ति प्रस्थापित हो सकेगी। जबतक वे असंगठित रहेंगे, तबतक न तो जातीय बलवे थम सकते हैं, न समर्थोंकी अहिंसाका पालन होता है।

हिन्दु संगठित होंगे

कई सोचते हैं कि हिन्दुओंमें अत्यन्त विघटना हो गई है और कई हिन्दुही हिन्दु-संगठनका द्वेष करते हैं। इसलिये हिन्दु-संगठन एक अशक्य कोटिकी बात है। परन्तु यह विचार हमें पसंद नहीं । यह काम यद्यपि सहज में नहीं होगा, तथापि सर्वथा अशक्य भी नहीं है ।

जो हिन्दु कई वर्षोंसे हिन्दुसंगठनके विरुद्ध प्रचार कर रहे थे, उनके सामने अन्य धार्मियोंने जो क्रूरतापूर्ण प्रात्यक्षिक कर बताये, उनसे कलकत्ता, अलीगढ, अहमदाबाद, नौआखाली इत्यादि स्थानोंके नाम वे हिन्दु कई वर्षोंतक भूलने न पायेंगे। उन भयानक प्रात्यक्षिकोंको देखकर इन सज्जनोंको हिन्दुसंगठनके विरुद्ध प्रचार करनेका अब साहस न होगा । और यदि कोईने ऐसा प्रयत्न किया भी तो समंजस हिन्दु उधर ध्यान भी नहीं देंगे । इस लाभके लिये कई निरपराध हिन्दुओंको प्रचण्ड बलिदान करना पडा है । जो हिन्दु अपने संगठनका महत्व समझते न थे, उन्हें मुसलमान बन्धुओंने पाशवी निदर्शनोंके द्वारा उसे समझा दिया है, तथा हिन्दुओंके संगठनके विरुद्ध प्रचार करनेवालोंका मुख बन्द कर दिया है। यह उसका हिंदुओंपर महान् उपकारही है।

गत ५० वर्षोंकी परिस्थितिने यह सिद्ध किया है कि इस राष्ट्रके बहुसंख्य हिन्दु यदि सुसंगठित रहे तोही राष्ट्र समर्थ हो सकता है । इसलिये हिन्दुसंगठन राष्ट्रीय महत्वका विषय है। जातीय कहकर इसका उपहास करना उचित नहीं है।

राष्ट्रकी तीन-चतुर्थांश जनताका संगठन यह निःसंदेह राष्ट्रीय विषय है, और जो लोग इस कामको कर रहे हैं, वे राष्ट्रीय कार्यही कर रहे हैं । राष्ट्रकी तीनचतुर्थांश जनताको असंगठित रखकर उस राष्ट्रको समर्थ बनाना अशक्य है। हिन्दु-संगठनका पवित्र कार्य राष्ट्रको समर्थ बनानेवाला होनेसे निःसंदेह राष्ट्रीय है ।

अब हिन्दुसंगठनके मार्गोंका विचार करना चाहिये । पहले यह कहा जा चुका है कि हिन्दु तथा फूट ये परस्पर विरुद्ध शब्द हैं । यदि हिंदुओंने यथार्थ धर्मानुकूल आचरण किया तो उनमें आपसकी फूट कदापि निर्माण न होगी । हिंदुओंकी फूट नष्ट करनेका यह अत्यंत सरल उपाय है । इसके लिये कोई वैसे बडे भारी यत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु दीर्घ कालतक यह कार्य करते रहना चाहिये ।

हिंदु-संगठनका मार्ग

व्यवहारमें मनुष्यका दो जीवनोंसे सम्बन्ध आता है। एक वैयक्तिक तथा दूसरा सार्वजनिक । वैयक्तिक जीवनका स्थान है देवगृह, पाकगृह और शयनगृह । घरके इन भागोंमें मनुष्य अपने व्यवहारके नियम वैयक्तिक अभिरुचिके अनुसार बना सकता है। वहां कौन आये तथा कौन न आये, यह उसके वैयक्तिक रुचिका प्रश्न है। उसमें दूसरेको दखल देनेका कोई कारण नहीं है ।

परन्तु घरमें आनेपर एक ऐसा कोई स्थान निश्चित होना चाहिये, जहाँ कि सब जातिके तथा पन्थके लोग समान भावसे आकर बैठ सकते हैं । वहां उनसे समानतापूर्वक व्यवहार किया जा सके ।

इसके बाद सब सार्वजनिक स्थानोंमें अर्थात् देवालय, धर्मशाला, सार्वजनिक पनघट, शालाएँ, पाठशालाएँ, कालेज, विश्वविद्यालय, न्यायालय, मार्ग, चौराहे, क्रीडांगण इत्यादि स्थान जो वैयक्तिक न होकर सार्वजनिक माने गये हैं, वहां सब लोगोंको समानतासे आनेका अधिकार होना चाहिये । इसका अर्थ यह नहीं कि चाहे जो चाहे जहाँ आकर बैठे और चाहे जैसा बर्ते । सार्वजनिक स्थानोंमें गुणोत्कर्षके अनुसार योग्यता मानी

*

जानी चाहिये। क्रीडांगणमें जो क्रीडाकुशल हो, उसे अग्रपूजाका मान मिले। मन्दिरों और धर्मसिद्धांतोंके चर्चाके स्थानोंपर, जो उस चर्चामें प्रवीण हो, वह अग्र-स्थानाधिकारी हो। तात्पर्य, स्थानके भेदके अनुसार वहांके कुशल, प्रवीणको अग्रमान मिले। केवल धर्मशाला, रुग्णालय ऐसा निवासयोग्य स्थानही हो, तब वहाँपर रुग्ण, वृद्ध, स्त्रियाँ, बालक इत्यादिको अधिक सुरक्षित स्थान मिला करे। अन्य सब सार्वजनिक स्थान सबको निष्प्रतिबन्ध प्रवेश करनेको योग्य समझे जावें।

ऐसी व्यवस्था होनेपर कई विवाद मिट जायेंगे। औरभी धार्मिक उत्सवोंका उपयोग इस संगठनके काममें अधिकाधिक कर लेना चाहिये। तथा हम कोई निराले नहीं हैं, किन्तु परस्परके भाईही हैं, ऐसा भाव हिन्दुमात्र-के अन्तःकरणमें इन उत्सवोंसे निर्माण करना चाहिये।

तथा प्रतिदिन नियत समयपर कमसे कम एक घण्टा-भर प्रत्येक गांवमें स्थानस्थानपर सब छोटे बडे और प्रत्येक पन्थके हिन्दुओंने बहुसंख्यामें इकट्ठे होना चाहिये। उन-में प्रौढ, तरुण, बाल, शिशु सब हों। खेलना, अपना कष्ट दूर करनेके विषयमें सोचना, परस्पर सहाय्य करना, अपने पूर्वजोंके स्मृतिउत्सव करना, अपने दोष कम करने-का तथा गुण बढानेका यत्न करना, परस्पर सहाय्यद्वारा एक दूसरेका प्रेम सम्पादित करना, सबको अनुशासनशील बनाना, वर्षमें कमसे कम पांच दसबार तोभी गांवोंके तथा प्रान्तोंके सामूहिक सम्मेलन करना, ऐसे और इसी जातिके कार्यक्रम सतत तथा नियमसे करते रहनेपर यह आगन्तुक फूट सदाके लिये नष्ट होगी।

धर्मका ज्ञान

इस उपायके साथही वास्तव धर्मतत्त्वोंका ज्ञान भी करा देना आवश्यक है। धर्मतत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान न होनेसेही हिन्दुओंमें आपसी फूट पैदा हुई है। इसके दूर करनेका उपाय यह है—

१. अनेक देव-(एकस्य आत्मनःसर्वाणि दैवतानि प्रत्यङ्गानि भवन्ति) = एकही परमात्माके विश्वदेहमें सब देव अंशरूप अवयव हैं। विश्व परमात्माका विराट् देह है, और उसमें अग्नि आदि अनेक देवता उस विश्वदेहके ही अंश हैं, उससे पृथक्, नहीं हैं। चाहे देव तीन, तेंतीस, तेंतीस करोड अथवा इनसे भी अधिक हों, वे परमात्माके विश्वरूप देहके अवयव होनेसे उससे भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार देवताओंके कारण निर्मित भेदभाव नष्ट होता है, यह ज्ञान सबको समझा देना और उपासकोंका भेद दूर करना, यह पहिला कार्य है।

२. अनेक धर्म-ग्रंथ— यह आपत्ति पूर्वाचार्योंनेही दूर की है। 'एकही वेद' हिन्दुओंका धर्मग्रन्थ है। दूसरे ग्रन्थ यदि वेदानुकूल हों तो वे ग्राह्य तथा वेदविरुद्ध होंतो वे त्याज्य हैं, ऐसा पूर्वाचार्योंने निश्चित किया है। इस व्यवस्थासे अनेक ग्रन्थोंके कारण जो भेद निर्माण हुआ है वह सहजही दूर होता है। केवल यह व्यवस्था समझा देने-की आवश्यकता है। अनेक आचार्योंके कारण बने मतभेद इसी व्यवस्थासे दूर हो सकते हैं।

३. जाति— मानवोंमें देश, स्थान, व्यवसाय, मन्त-व्य आदिके कारण जो भेद निर्माण होते हैं, वे व्यावसा-यिक भेद समाजको इष्ट होनेके कारण परस्पर द्वेषको कारण न होने चाहिये। सभी व्यवसायात्मक कर्म समाजहितके लिये अत्यावश्यक है। ये सब व्यवसायी समाजसेवाही कर रहे हैं, यह समझा कर इनमें माना हुआ उच्च-नीच भाव योग्य नहीं है, यह उन्हें समझा दिया जाय। और भी ये सब ईश्वरके विश्व शरीरकेही अंश हैं, यह भी कहा जाय।

इस प्रकार सब भेदोंके विषयमें विचार करते हुए इनमें एकही एकत्वका सूत्र कैसा अनुस्यूत है, यह सबको समझा दिया जाय। हिन्दुसंगठन इस तरह निश्चयपूर्वक किया जाय तो सहज होनेवाला है। इसे करनेमें जो जो कटिबद्ध होंगे, वे इस भरतभूमिके सच्चे सेवकही हैं। यदि हिन्दु संगठित हुये तो फिर हिन्दुस्थान बलशाली हो जायगा। यह कार्य निरलस त्यागी सेवकही कर सकते हैं। ऐसे लक्षावधि स्वयंसेवक इस कार्यको करनेके लिये आगे बढने चाहिये। करते करते मार्ग सरल होते जायगा। कार्य बहुत विशाल है। इसमें करने योग्य कार्यक्रम करने-वालेको आगे सूझते जायेंगे और इसीसे संगठन सिद्ध होता जायगा।

विजया दशमी

विजया दशमीका महोत्सव हिन्दुओंमें अत्यन्त विशाल प्रमाणमें मनाया जाता है। सारे शुभ मुहूर्तोंमें " विजया दशमी " का मुहूर्त अत्यन्त शुभ माना गया है। महाराष्ट्रमें इस दिन युवक-वर्ग सीमोल्लंघन कर बाहरसे सोना (सुवर्ण) लाता है, और उसे अपने इष्ट-मित्रोंमें बांट देता है। इसमें की मूल कल्पना बडी उदात्त है। प्रत्येक मनुष्यकी वृत्ति स्वार्थी हुआही करती है। परन्तु शत्रुको पराजित कर अपने प्रयत्नसे प्राप्त किया धन केवल अपनेही उपभोगके लिये न रखते हुए, दूसरोंको बांटना और उन सबके आनन्दसे स्वयं आनन्दित होना, इस सात्त्विक सुखके लिये हिन्दुओंका यह उत्सव है। प्रत्येक हिन्दुको सदा इस तत्त्वको भूलना न चाहिये।

उत्तर भारतका दशहरा

विजया दशमीकोही महाराष्ट्रमें दसरा और उत्तर भारतमें दशहरा कहा करते हैं। मराठी नाम है दसरा और हिन्दीमें कहते हैं दशहरा। उत्तर भारतमें यह उत्सव बडी अच्छी पद्धतिसे मनाया जाता है। कश्मीर, लाहौर, अमृतसर, दिल्ली, कानपुर इत्यादि नगरोंमें इन दिनोंमें **रामलीला** हुआ करती है। इसकी सिद्धता एक दो मास पहलेसे चला करती है। गांवके बाहर बडे विस्तृत समतल भू-विभागमें दारूसे भरे हुए कागजके बडे विशाल पेडके जितने ऊंचे रावण, कुम्भकर्ण, इन्द्रजित् इत्यादि राक्षस दशहरेके दिन खडे किये जाते हैं। एक ओर लंका-नगरी भी बनाई जाती है। इधर दशहरेके दिन प्रभातसे राम, लक्ष्मण, सीता, हनुमान् इत्यादिके स्वांग अच्छी तौरसे सजाये जाते हैं। एक एक गाडेपर 'रामायणका एक एक दृश्य रचा जाता है। फिर उन राम-लक्ष्मणोंको उन गाडोंपर बिठलाकर ऐसे १०-१५ गाडोंकी उत्सव-यात्रा गांवभर निकाली जाती है। हर गलीमें सैकडों स्त्रीपुरुष बडे आनन्दसे इन राम-लक्ष्मणोंका स्वागत कर उनका दर्शन लेते हैं। उस दिन प्रभातसे सायंकालतक यह यात्रा चला करती है। सायंकाल ६ बजनेके समय यात्रा गांवके बाहर उस प्रांगणमें आती है, जहाँ कि लंका रची हुई होती है। पश्चात् प्रथम छोटे छोटे राक्षसोंसे युद्ध होकर उन्हें जला दिया जाता है। जलते समय उनके शरीरमें भरा हुवा दारूकाम उडने लगकर उसके रंगीले प्रकाशसे बडी शोभा दीखती है।

इसके बाद फिर लंका-दहन होता है और पश्चात् रावण तथा कुंभकर्ण मारे जाते हैं। उनके वे विशाल देह जलते हुए बडी अवर्णनीय शोभा दिखाई देती है। रात्रिके समय यह सब दृश्य बडाही सुहावना प्रतीत होता है। यह सब होनेमें २-३ घण्टे लगते हैं।

उत्तर भारतकी यह रामलीला नागरिकोंको रामायणका प्रत्यक्ष पाठही देती है। रामचरित्रमें जो जो घटनाएँ बनीं, वे सारी इस रामलीलामें बताई जाती हैं। और भी नवरात्रके नौ दिन हरेक गलीमें रामचरित्र कथाकीर्तनोंके रूपमें गाया जाता है। तात्पर्य, उत्तरमें यह नवरात्रका उत्सव रामलीलाके प्रात्यक्षिकसे मनाया जाता है। रामचरित्र वहाँकी जनताको आज भी नवचैतन्यका प्रदान करनेमें समर्थ है।

महाराष्ट्रमें इन नौ दिनोंमें कथाकीर्तन तो होतेही हैं। परन्तु दशहरेके दिन अपने राज्यकी सीमा उलांघकर शत्रु-राज्यमें जाकर वहांसे लाई हुई सम्पत्ति बन्धु-बान्धवोंमें बांटनेका निदर्शक जो प्रशंसनीय आचार आजतक चलता आ रहा है, उसके रूपसे ऐसा प्रतीत होता है कि महाराष्ट्रने शत्रुको पराजित कर विजयी होनेकी परम्परा इस उत्सवके द्वारा अबाधित रखी है।

विजयके लिये उत्सव

यह उत्सव इस प्रकार विजयका उत्सव है। परदेशीय द्वीपनिवासी शत्रुको पराजित कर इसी दिन राम विजयी हुए। इस घटनाके प्रात्यक्षिक पूर्वोक्त रीतिसे उत्तरमें बताये जाते हैं, तथा दक्षिणमें शत्रुपर प्रत्यक्ष आक्रमण कर उससे लाया हुआ धन बन्धु-बान्धवोंमें बांट देनेके रूपसे वही प्रात्यक्षिक प्रतिवर्ष किया जाता है। तात्पर्य, यह उत्सव आर्योंके विजयका उत्सव है। आज भी हम आर्योंके वंशजोंको दिग्विजय करनेका संदेश यह उत्सव दे रहा है।

अश्व, अश्विनी, आश्विन

घोडेपर चढकर शत्रुपर आक्रमण करनेवाले वीरोंको अश्विनी नक्षत्र शुभफलदायी माना गया है। यह नक्षत्र आश्विन पौर्णिमासीके दिन प्रायः होता है। इस दिन सकलकलानिधि चन्द्रमा अश्विनी नक्षत्रसे युक्त होता है। इसलिये इसी मासमें युद्धकला-निपुण वीरोंने घोडोंपर चढकर शत्रुपर आक्रमण कर यशस्वी होनेकी सूचना यह आश्विन मास देता हुआ दीखता है। आर्योंकी आजतककी यही रीति है।

अश्व यह वीरत्वका प्रतीक है। **'अश्विन्, अश्विनौ'** इन शब्दोंका अर्थ है " जिनके पास अश्व हैं, ऐसे अश्वारोही, अश्ववीर, अश्वोंको उत्तम शिक्षा देनेवाले (अश्विनी कुमार)। **'अश्विनी'** का अर्थ है पहिला नक्षत्र, अश्वोंको शिक्षण देनेवाली (संस्था, देवता), (अश्विनी) अश्वोंको संचलन करनेवाली। **'आश्विन'** मास अश्विनीसे सम्बन्धित, अश्व-विशारदोंको हितकारक, अश्वारोहण करनेवालोंको सुखदायी है। वीर अश्वारोही होकर अपने शत्रुओंपर आक्रमण करें, उन्हें यह मास लाभदायी होगा। इसी आश्विन मासमें **" विजया दशमी "** आती है। इसीलिये शत्रुपर आक्रमण करनेके लिये यह मास उत्तम माना गया है।

शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष

आक्रमणकारी लोगोंके दो पक्ष हो सकते हैं। शुद्ध धर्मानुकूल आचरण करनेवालोंका शुक्ल पक्ष और दूसरा अधर्मयुक्त कृष्ण कृत्य करनेवालोंका कृष्णपक्ष। हमारी विजया दशमी शुक्ल पक्षमें आती है। अपने शत्रुको पराजित करनेके सब अन्य बुरे उपाय दूर रखकर केवल शुद्ध सत्य धर्मानुकूल रीतिसे आक्रमण करनेवालोंकोही विजय मिलता है, ऐसी सूचना यहाँपर मिलती है। अपने पास पाशवी शक्ति है, केवल इसीलिये निर्बलोंको दबानेके उद्देश्यसे आक्रमण करना उचित नहीं है। शत्रु यदि सचमुच मानवताका वैरी हो, तथा वह दूसरे सामादिक उपायोंसे पराजित न होता हो, तब अन्य साधनके मार्ग बन्द हो जानेपर उसपर वीरोंका सैन्य भेजा जाय। इस दक्षतासे और विचारसे किया हुआ आक्रमण शुद्ध पक्षका आक्रमण है। विजया दशमी ऐसे वीरोंको विजय प्राप्त करा देती है। यहां पाशवी आक्रमणोंका निषेध कर धर्मानुसार आक्रमणका शुद्ध पक्ष ग्रहण करनेयोग्य माना गया है।

"आश्विन शुक्ल-पक्षकी विजया (दशमी)" इसका मूल अर्थ है, " अश्वारोहिओंके अर्थात् वीरोंके शुद्ध निर्दोष (धार्मिक) पक्षको निःसंशय विजय प्राप्त करा देनेवाली यह (दशमी) है ! " " आश्विन शुक्ल अथवा शुक्ल विजया " इन शब्दोंसे यही भाव दरसाया है।

दशमी = दश+शमी

यह **" विजया दशमी "** है। दशमी यह 'दश+शमी' हैं। दशोंका शमन यहाँ अभीष्ट है। दशोंमें उच्छृंखलता न होना इसका आशय है, अर्थात् दशोंका शमन। ये दस यदि शान्त, संयमी, अनत्याचारी होंगे, तो उनका विजयही होगा। आत्मा, बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रियाँ (कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ), शरीर (व्यक्ति) ये छः व्यक्तिके अन्तर्गत सामर्थ्य-केन्द्र हैं। समाज, राष्ट्र तथा विश्व ये बाहरी तीन अर्थात् व्यक्तिओंके समूहशक्तिके केन्द्र हैं। इन सबका परस्पर सम्बन्ध दसवाँ है। इन सबोंमें संयम, दमन तथा शान्ति चाहिये। इनमें उच्छृंखलता न होनी चाहिये। क्रूरता अथवा अत्याचारका भाव कहीं भी न हो। इस तरह इन दसोंका शमन, दमन तथा संयमन होना चाहिये। ऐसे संयमित सत्पक्षीय वीरोंकी ओरसे दुष्ट शत्रुओंका नाश करनेके लिये सत्पक्षका आश्रय करके जो शत्रुओंपर आक्रमण किया जाता है, वह यशस्वी होता है। तथा यही विजय यहाँपर अपेक्षित है। **"विनाशाय च दुष्कृताम्।"** (गीता)

संभवतः एक बार क्रूरकर्मी अत्याचारी दुष्ट अपने पाशवी अत्याचारोंसे सत्पक्षपर विजय भी प्राप्त कर सकेंगे। परन्तु वह 'जय अथवा विजय' सच्चा नहीं होगा। वह यश स्थायी नहीं है। तथा उस यशसे संसारके कूट प्रश्न यशस्वी रीतिसे हल भी न हो सकेंगे। पूर्वकथित सामर्थ्यवान् संयमी पक्ष जो विजय पाता है, उसीका विजय अथवा विशेष रूपका जय कहा जा सकता है। अत्याचारी लोगोंका यश विजय नहीं कहा जा सकता।

" आश्विन शुक्ल विजया दशमी " इन सूचक पदोंसे जो यौगिक अर्थ प्रकट होता है, वह ऊपर लिखा हुआ है। इस अर्थसे और इन शब्दोंसे मानवी उन्नतिकी एक विशिष्ट दिशाकी ओर संकेत किया है। हिन्दुधर्मके उत्सव हिन्दुओंको एक विशिष्ट दिव्य अभिनव मार्गसे जानेकीही सूचना दे रहे हैं, यह बात यहांपर एकदम स्पष्ट होती है।

नौ रात्रियाँ तथा दसवाँ दिन

इस नवरात्र उत्सवके दसवे दिन दशहरा आता है। वही है विजया दशमी। इस उत्सवका पहिला भाग नौ रात्रियोंका है। तथा दसवे दिन जो उत्सव करना है वह "दिन" को करना है। स्वाभाविकही यह प्रश्न निर्माण होता है कि नौ "रात्रियाँ" क्यों और दसवाँ "दिन" क्यों? पहिले नौ अहोरात्रियोंमें केवल रात्रियोंका उल्लेख है। तथा दसवे अहोरात्रमें केवल दिनकाही उल्लेख है। यह ऐसा क्यों? रात्रि तथा दिनका भेद यह है कि रात्रिमें अंधेरा हुआ करता है, मार्ग नहीं दिखाई पडता, चलनेमें रुकावट निर्माण होती है, तथा डर लगता है। परन्तु दिनमें मार्ग स्पष्ट दिखाई देता है। अब यह देखना है कि क्या इस उत्सवने इस संकेतकी ओर अंगुलि-निर्देश किया है?

मनुष्यके अभ्युदयके मार्गमें नौ रात्री जैसी कठिनाइयाँ है, और वे दूर हुई, मार्गदर्शनके लिये प्रकाशमय दसवां दिन आता है, उससे जाकर मनुष्यके लिये विजय मिलता है, यह यहां अनुमान हो सकता है। यह सत्य है कि हमारे मार्गमें बहुत बडी निबिड अन्धकारमय और संकटोंसे भरी हुई नौ रात्रियाँ हैं। ये नौ प्रकारके अंधकार दूर होनेपरही प्रकाशका मार्ग दीख सकता है, यह सूचना इस उत्सवके द्वारा दी गई है। रात्रि, अन्धकार, इसका अर्थ है अज्ञान। ये हमारे अज्ञान महा भयानक काल-रात्रिके समान बडे भयंकरही हैं।

(१) आत्मा, (२) बुद्धि, (३) अहंकार, (४) मन, (५) इन्द्रियाँ (ज्ञानेंद्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ), (६) शरीर, (७) समाज, (८) राष्ट्र, (९) विश्व, ये मानवी जीवनके नौ विभाग हैं। मनुष्यके सब व्यवहार इसमेंसे किसी न किसी एकके अथवा अनेकके साथ सम्बन्धित रहते हैं। पहिले छः व्यक्तिविषयक हैं, तथा दूसरे तीनोंमें एक व्यक्ति दूसरेके संपर्कमें आती है। यदि इन सबका सामंजस्य हो, तबही मनुष्यकी विजय हो सकती है। परन्तु आजके मानवी व्यवहारकी ओर देखनेपर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि इन सब कार्यक्षेत्रोंमें मनुष्य विजयी नहीं हो रहा है।

नौ काल-रात्रियाँ

ज्ञानसे उन्नति होती है, अज्ञानसे अवनति। ज्ञान प्रकाश है, अज्ञान अन्धकार है, अन्धकार ही रात्रि है। जितना अन्धकार गहरा होगा, मनुष्यका मार्ग उतना कठिन हो जायगा। रात्रिके अन्धकारमेंसे चलनेवाले मनुष्यको मार्ग तथा उसमेंके गढे दिखाई नहीं देते। अन्धकार चलनेवालेके मार्गमें एक बडा-भारी प्रतिबन्ध है। वही यदि दिन हो, तब फिर मार्ग भी स्पष्ट दिखाई देगा, कहाँ क्या है वह भी समझ पडेगा, तथा बीचके प्रतिबन्धोंसे इतने कष्ट भी न होंगे।

हम यहाँ नवरात्रिके उत्सवका विचार कर रहे हैं। हमारा उत्सव नौ रात्रियोंका है। इस नौ रात्रियोंमेंसे हमें मार्ग निकालना है। यह नौ रात्रियाँ कौनसी हैं? आत्मा- बुद्धि- अहंकार- मन-इंद्रियाँ-शरीर-समाज-राष्ट्र-विश्व इन नौ क्षेत्रोंका हमारा अज्ञानही ये नौ काल-रात्रियाँ हैं। ऋषियोंने दिव्य तपश्चर्या कर साधकको इन काल-रात्रियोंकी बाधा न हो, तथा उसका मार्ग सुगम हो, इसलिये प्रकाशका धर्ममार्ग निश्चित किया है। परन्तु उनके अनुयायियोंने उस मार्गका अवलंबन करना छोड दिया है, तथा आजतक उन्होंने इस दिव्य मार्गका प्रचार भी संसारमें नहीं किया। इसलिये आज ऐसी परिस्थिति निर्माण हुई है कि वह मार्ग न तो हमको उपलब्ध है, न दूसरोंको मिला है।

ऊपर कही अज्ञानकी भयंकरताका विचार करना यहाँ आवश्यक है। किसी भी एक क्षेत्रमें आज आनंद देनेवाली परिस्थिति है नहीं। प्रत्येक कार्यक्षेत्रका अज्ञान इतना भयंकर हुआ है कि अब उसकी पराकाष्ठा हो चुकी है। हम इसी सम्बन्धमें कुछ विचार वाचकोंके सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं।

१. आत्मा सर्वव्यापक तथा सबकी एक है, (**एकात्मप्रत्ययसारं**। माण्डूक्य उ०) ऐसा दिव्य ऋषि कह गये। परन्तु व्यवहारमें प्रत्येककी आत्मा भिन्न मानी जाती है। सबकी आत्मा एक है, यह सिद्धान्त मानकर अनन्य (अन्-अन्य) भावसे व्यवहार होने लग जाय, तो द्वन्द्वोंका उपद्रव नष्ट होकर सुखकी वृद्धि होगी। परन्तु इस समयमें यह 'अनन्य-भाव' ही नष्ट हो गया है और जो वस्तुतः अस्तित्वमें नहीं होना चाहिये, वह द्वन्द्वभाव बढ रहा है। इसपरसे आत्मिक क्षेत्रके पहली कालरात्रिकी कल्पना हो सकती है।

२. बुद्धि का क्षेत्र शुद्ध सत्य ज्ञानका क्षेत्र है। बुद्धि निश्चित ज्ञानका स्थान है। तथा यह ज्ञान (**मोक्षे धीर्ज्ञानं**) बन्धनोंसे दूर करके स्वाधीनताकी प्राप्ति करानेवाले साधनोंका निश्चित ज्ञान है। परन्तु आज कौन ऐसा है कि जिसे बन्धनोंसे

मुक्ति पानेका सम्यक् ज्ञान है ? संसारभरमें अन्यान्य पन्थोंके भिन्नभिन्न तत्त्वज्ञान फैल रहे है। उनसे बुद्धिका क्षेत्र व्याप्त होकर सत्यासत्यके निर्णयके विषयमें मनुष्य मूढ हो गया है। निश्चित मार्गका ज्ञान किसीको भी नहीं है। जहाँ बुद्धिमें सात्त्विक प्रकाशकी आवश्यकता है, वहींपर आज अन्धकारका साम्राज्य है। यह दूसरी कालरात्रि है।

३. **अहंकार** एक अत्यन्त सामर्थ्यवाली प्रेरक शक्ति है। परन्तु निश्चित मार्गका पता न चलनेसे मनुष्य मनमाने पन्थका अवलम्ब कर रहा है। तथा उस पन्थका अहंकार धारण कर भयानक हलचल कर रहा है। अहंकार प्रेरक होनेपर भी मार्गका ठीक पता न होनेसे, वही प्रेरणा भयानक हो रही है। इस प्रेरणामें यद्यपि प्रयत्न आदिके द्वारा महती शक्तिका व्यय हो रहा है, तथापि उस शक्तिके व्ययसे जिस लाभकी अपेक्षा की जाती है, उसके दर्शन भी नहीं होने पाते। यह तीसरी कालरात्रि विघ्नोंके द्वारा मार्गमें रुकावटें निर्माण कर रही है।

४. **मन** यह मनुष्यके पास एक अत्यन्त प्रबल सामर्थ्य है। (**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**) मनकी सहायतासे मनुष्य बन्धनसे मुक्त भी हो सकता है, तथा उसमें बद्ध भी हो सकता है। सर्व शक्तियोंमें मानसिक शक्ति अत्यन्त प्रभावी है, इसलिये मनुष्यको उसका उपयोग अत्यन्त सावधानतासे करना चाहिये। अच्छा सारथी बागडोर कुशलतासे सम्हालते हुए अश्वोंको स्वाधीन रख रथ इष्ट मार्गसे ले चलता है। परन्तु यदि उसने पागल होकर मद्यपान किया, तो फिर रथकी अवस्था क्या होगी ? अशिक्षित, पागल, मद्यपी सारथीकेही समान आज मानवी मनकी अवस्था हो गयी है। इसलिये सर्वत्र अराजक फैला हुवा है। यह चौथी कालरात्रि है। उस पागल मद्यपी सारथीके हाथोंमें प्रचण्ड वेगसे दौडनेवाली मोटर दी गई है, अब अन्दर बैठे हुए प्रवासी लोगोंका क्या होगा, बस कल्पनाही कीजिये। फिर भी वह मोटर आज अन्धकारमेंसे चलाती है।

५. **इन्द्रियाँ** जीवकी शक्तियाँ हैं। इनमें ज्ञानेंद्रिय तथा कर्मेन्द्रिय ऐसे दो भेद हैं। ये दोनों इन्द्रियाँ आत्माकी निजशक्ति ही हैं। 'इन्द्र' अर्थात् जीवात्मा तथा 'य' अर्थात् शक्ति। ये जीवकी शक्तियाँ जीवकी उन्नतिके काम आनी चाहिये। परन्तु आजका उनका उपयोग देखनेपर यह कहना पडता है कि वे जीवको गढ्ढेमें डाल रही हैं। जिस अज्ञानसे यह हो रहा है वह है पांचवी रात्रि।

६. **शरीर** प्रत्येक मानवका कर्तव्यक्षेत्र है। (**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते** ॥ गी० १३।१) इसके साधनसे मनुष्य चाहे जो अभ्युदय प्राप्त कर सकता है। परन्तु अभ्युदय तो दूर रहा, आरोग्य, बल, दीर्घ जीवन ये प्राथमिक साध्य भी शरीरसे होना आज दूभर हो गया है। जिसकी आयु सौ डेढ सौ वर्षोंतक गिनी गयी, वह शरीर अल्पायु होकर नष्ट होता जाता है। बीसवी सदीको सुधारणा-युग कहते हैं। परन्तु जिस कालमें शरीर सुरक्षित रखना भी असंभव हो गया है, उसे किस नामसे पुकारा जाय ? चार पांच हजार वर्ष पूर्व इसी देशके लोग डेढ सौ वर्षोंतक जीवित रहा करते थे। आज उसी देशके पुरुष उनके चतुर्थांश आयुका भी उपभोग नहीं ले सकते। यदि सुधारणाही होते जा रही है, तो फिर पूर्वकी अपेक्षा मनुष्यको अधिक दीर्घायु होना चाहिये। परन्तु वस्तुस्थिति इसके ठीक विपरीत है। जिस अज्ञानके कारण यह हो रहा है, वह है छठीं रात्रि कि जो चारों ओरसे मनुष्यको घेर रही है।

७. **समाज** व्यक्तिओंके समूहका नाम है। हम देख चुके हैं कि व्यक्तिकी अवस्था उपरिलिखित छः अज्ञानोंसे कैसी हो गयी है। ऐसी व्यक्तियाँ मिलकर जो समाज बना है, वह उनकी अवस्थासे कदापि अधिक उत्तम नहीं हो सकता। समाज यह नहीं जानता कि ठीक तरह अपनी उन्नति कैसे की जाय। संगठनके संबन्धका यह अज्ञान अत्यन्त भयंकर है। असंगठनरूपी यह सातवी कालरात्रि मनुष्योंको सामाजिक अवनतिके गढ्ढेमें फेंक रही है।

८. **राष्ट्र** अनेक समाज मिलकर होता है। ये समाज यदि परस्पर सहायक बनेंगे तो सबकी उन्नति हो सकती है। परन्तु सेवा और सहायता तो दूर रही, ये समाज आज परस्परका गला घोटनेपर उतारू हो गये हैं। संसारके सब देशोंमें आज कई प्रकारके युद्ध चल रहे हैं। इससे सब राष्ट्रोंकी अधोगतिही हो रही है। अनन्यभावसे परस्पर साहाय्यता न करना, यह एक बडा भारी अज्ञानही है। यह आठवी कालरात्रि मनुष्यको सता रही है।

९. **विश्व** यह अखण्ड विष्णुरूप हमारे चारों ओर है। वह मानवोंकी उन्नतिके लिये आवश्यक साधन-सम्पत्तिसे युक्त है। मानवोंने इन सब साधनोंका उपयोग कर उन्नत होना चाहिये।

परन्तु मनुष्य तो एक साधनको लेकर उससे संहारके शस्त्र बना रहा है, और परस्परका संहार करनेका यत्न कर विश्व-कल्याणकी बजाय विश्वसंहार कर रहा है। विश्वके इन साधनोंका सदुपयोग करना चाहिये, यह बात मनुष्यने अभीतक नहीं समझी है। वस्तुज्ञानके साथ रहनेवाला यह मानवीय व्यवहार-विषयक अज्ञान, यह है नौवी कालरात्रि। इस कालरात्रिके अन्धकारसे इसको उन्नतिका मार्ग दिखाई देना बन्द हो गया है।

ये नौ कालरात्रियाँ हैं। सृष्टि निर्माण होकर लाखों वर्ष बीत चुके। परन्तु एक ऋषिकालको छोडकर आधुनिक इतिहास-में कभी भी इन रात्रियोंसे पार होनेका मार्ग मनुष्यको मिला नहीं है। वस्तुतः देखा जाय तो मनुष्यको अनुभवसे यह ज्ञान होना चाहिये। परन्तु दुःखसे कहना पडता है कि लाखों वर्षोंके अनुभवके बाद भी मनुष्यको सुखसे जीनेका ज्ञान नहीं हुआ है।

नवरात्रिमें नन्दादीप

इस नवरात्रमें अहोरात्र अखण्ड प्रकाश देनेवाला नंदादीप जलानेका एक प्रघात है। यह इस बातकी अत्युत्तम सूचना है कि इन नौ रात्रियोंका अन्धकार नष्ट करना चाहिये। यह नन्दादीप इन नौ रात्रियोंमें बुझना नहीं चाहिये। बत्ती भी वही रहनी चाहिये, दूसरी चलेगी नहीं। ज्ञानदीप रातदिन अखण्ड जलते रहना चाहिये। यदि वह बुझ गया, तो प्रगति-पथमें अन्धकार कब रुकावट निर्माण करेगा इसका कोई निश्चय नहीं है। अत एव यह दक्षता रखी जाती है।

इस ज्ञानदीपको जलते रखनेके लिये, सबका स्नेह सर्व-हितार्थ समर्पित होना चाहिये। जैसा कि इस नन्दादीपमें तैलरूपसे स्नेहही समर्पित होता रहता है। इस स्नेहसमर्पणमें सबको प्रकाश दिखानेका उद्देश्य रहता है। स्नेहके समाप्त होनेपर नन्दादीप भी बुझ जाता है और फिर कालरात्रिका दुखदायी अन्धकार सामने आ जाता है। ठीक इसी प्रकार जब सब राष्ट्रके लोग परस्पर सहायताके लिये अपना स्नेह समर्पित करते हैं, तब उस राष्ट्रमें ज्ञानका दीप जलता रहकर लोगोंको उत्तम मार्गदर्शक होता है।

नन्दादीपमें परस्परका स्नेहभाव दरसानेवाला है तैल (संस्कृत नाम स्नेह), इस स्नेहका आकर्षण करनेवाली बत्ती अनेक तन्तुओंकी संगठनासे बनी हुई होती है। यदि अनेक निर्बल भी तन्तु इकट्ठे आगये, तो उनकी होनेवाली बत्ती टूटती नहीं। वह अपने संगठनके बलसे सब स्नेहको अपने पास आकर्षित कर सकती है। यह संगठित तथा स्नेहयुक्त बत्ती अपना सम्पूर्ण समर्पण कर दूसरोंको प्रकाश बताकर उन्नति-पथपर प्रगति करनेमें सहायक बनती है।

बत्तीमें मूल संस्कृत शब्द है **वर्तिः, वर्तिका**। इनमें जो " वृत् " धातु है, उसका अर्थ है " बर्तना, बर्ताव करना, रहना। " इस धातुसे बननेवाले ' **वर्त** तथा **वर्तका** ' शब्दोंका अर्थ होता है, ' जीवन-निर्वाह, जीवन-साधन, होना, बर्ताव। ' इसपरसे यह स्पष्ट हुआ कि, ' **वर्ति** तथा **वर्तिका** ' शब्दोंके अर्थोंमें भी ' बर्ताव, व्यवहार, जीवन-व्यवहार ' का भाव है। अर्थात् ' अनेक निर्बल तन्तुओंकी वर्तिका ' अनेक मानवोंके संगठित प्रेमयुक्त जीवन-व्यवहारकी सूचना दे रही है। मानवी उन्नतिका जो मूल मन्त्र यह नन्दादीप दे रहा है, वह इस प्रकार है—

१. निर्बलोंने अपनी निर्बलतासे उदास तथा दीन न होना चाहिये। वे अपना संगठन करें। सबोंने स्नेहपूर्वक परस्परका आकर्षण कर अपना सांघिक व्यवहार उत्तम रीतिसे चलाना चाहिये। तथा अपनेमेंसे किसीको भी स्नेहरहित अवस्थामें बाहर फेंकना नहीं चाहिये।
२. इस स्नेहपूर्ण जीवनसे अत्यन्त प्रकाशित तथा तेजस्वी होनेके लिये तथा अपना उज्ज्वल स्वरूप प्रकट करनेके लिये अपना आवश्यक अंश अवश्य अर्पण करना चाहिये।
३. जबतक यह निर्बलोंका सबल संगठन सबके लिये अपना समर्पण करते रहेगा, अपने जीवनका यज्ञ करते रहेगा, तबतकही इस नन्दादीपका प्रकाश उनके लिये उजाला देता रहेगा। जब वह वर्तिका अपना भाग अर्पण करना बन्द करेगी, तब सारे विश्वभरमें अंधकार-काही साम्राज्य होगा।

राष्ट्रीय जीवनका यह दिव्य संदेश नन्दादीप दे रहा है। नौ रात्रियोंके घने अंधकारमेंसे हमें आगे जाना है। इस समय सतत प्रकाशित रहनेवाला दीपही हमारा मार्गदर्शक हो सकेगा। यह दीप न बुझे। इसका प्रकाश सदाही उज्ज्वलित रहना चाहिये। इस दीपके प्रकाशसेही हमें पहिले कहे नौ रात्रियोंके प्रगाढ अंधकारसे मार्ग निकालना है।

केवल विजयका जप करनेसे कुछ भी न बनेगा। हमारे

पराजयके लिये जो अज्ञान सतत कारण हो रहा है, उसे हटाना चाहिये। जबतक यह अज्ञान दूर न होगा, तबतक विजयकी आशा करना व्यर्थ है। नौ रात्रियोंका अर्थ है नौ प्रकारका मानवी अज्ञान। उस उस क्षेत्रका ज्ञान प्राप्त करकेही इस अज्ञानको हटाना चाहिये, दूसरा कोई उपाय नहीं है। ज्ञान प्राप्त होनेपर भी उसे सदा तेजस्वी रखना चाहिये। ज्ञान प्राप्त करके उसे सदा तेजस्वी रखनाही मुख्य साधन है, जिसका कि संदेश हम इस उत्सवसे पा रुके हैं।

विजयके लिये उपासना

महासरस्वती, महालक्ष्मी तथा महाकाली

विजयप्राप्तिके लिये इन तीन देवताओंकी उपासना करनाही एकमात्र साधन है। **महासरस्वती** ' का अर्थ है ' महान् विद्या,' **महालक्ष्मी** अर्थात् 'महान् सम्पत्ति,' और **महाकाली** का अर्थ है ' महान् युद्धशक्ति । ' सर्वप्रथम विस्तृत ज्ञान, प्राप्त करना चाहिये। यह ज्ञान थोडा न हो। सब शास्त्रोंका यथांसांग ज्ञान होना चाहिये। यह ज्ञानही हमारा नन्दादीप है। यह ज्ञानका दीप सतत जलते रहना चाहिये, कभी बूझना नहीं चाहिये। यह ज्ञान ' स-रस् ' हो, शुष्क न हो। उसमेंसे जीवनका रस निकलता रहना चाहिये। तथा जीवन भी सरस होना चाहिये।

मान लो कि बडी विद्या प्राप्त की, जितना आवश्यक है उतना सब ज्ञान प्राप्त किया, तब क्या उतने ज्ञानसेही केवल हमें विजय प्राप्त हो सकेगी ? नहीं नहीं, केवल ज्ञानसेही कभी विजय प्राप्त नहीं होगी। ज्ञानके पश्चात् ' **लक्ष्मी** ' अर्थात् धन संपत्ति प्राप्त करनी चाहिये। धन, ऐश्वर्य, संपत्ति, पैसा, धान्य तथा अन्य सामान यह सब धनमें संमीलित है। यह सब प्राप्त करना चाहिये। पहिले ज्ञान और पश्चात् उस ज्ञानसे धन, ये दोनों साधन हमारे पास हो गये, तो ज्ञान और धनसे हमारी उन्नतिके लिये करनेयोग्य सभी आवश्यक आयोजनाएँ की जा सकती हैं। ज्ञानसे आयोजना निश्चित की जा सकती है और धनसे वह सिद्ध की जा सकती है। इस तरह ज्ञान और धनसे यश तथा विजयके पास पहुंचनेका साधन हो सकता है। आयोजनाकी सिद्धता ज्ञान और धनसे करनेका यत्न करनेसेही सिद्धि हो सकती है, ऐसा कई कहेंगे। अंशतः वह सत्य भी है, तथापि इस तरह सिद्धि मिलनेकी संभावना होतेही वहां अनेक शत्रु निर्माण होते हैं। शत्रु तो जैसे अन्दरके हैं वैसे बाहरके भी। दोनों शत्रुओंको युद्ध करकेही दूर करना चाहिये, यहांही महा संग्रामका अवसर उत्पन्न होता है। यह टलना अशक्य है।

युद्ध तो अनेक क्षेत्रोंमें और अनेक पद्धतियोंसे करना आवश्यक होता है। वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, राष्ट्रान्तरीय, औद्योगिक, धार्मिक आदि अनेक क्षेत्रोंमें युद्ध करके सर्वत्र विजय प्राप्त हुई तोही यश मिल सकता है। राजकीय क्षेत्रमें विजय मिली और औद्योगिक क्षेत्रमें पराभव हुआ, तो उस विजयसे पूरा लाभ नहीं मिलेगा। इस तरह विचार करनेपर प्रतीत होगा कि अपनी विजय अकेले क्षेत्रमेंही केवल नहीं होनी चाहिये, प्रत्युत सभी क्षेत्रोंमें संपूर्णतया विजय होनी चाहिये। यही समझानेके उद्देश्यसे **"महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली इन तीनोंकी इकट्ठी उपासना करनी चाहिये"** ऐसा स्पष्ट कहा है। बहुत ज्ञान, बहुत धन और बहुत युद्धसाधन प्राप्त करना चाहिये। अल्पसे कार्य नहीं होगा। यह बात यहांके ' **महा** ' शब्दसे स्पष्ट होती है।

अपना, व्यक्तिका और राष्ट्रका पूर्वोक्त नौ कार्यक्षेत्रोंका अज्ञान कितना गहरा है, उसका ज्ञान होतेही, उसको हटानेके लिये कितना ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, इसकी कल्पना हो सकती है। वैसीही अपनी दरिद्रताकी कल्पना होनेसे धनकी प्राप्ति कितनी होनी चाहिये, इसका ज्ञान हो सकता है। सब प्रगति ज्ञान और धनके योग्य उपयोग और प्रयोगसेही हो सकती है। विना ज्ञान और धनके कुछ भी बन नहीं सकता। ज्ञान और धनके बाद संग्रामसाधनकी भी वैसीही प्रचण्ड तैयारी होनी चाहिये। सेना, युद्धके शस्त्रास्त्रसाधन और युद्धमें कुशलता इन सबमें शत्रुकी अपेक्षा अपना पक्ष प्रबल रहना चाहिये। तभी विजय मिलेगी।

यहां युद्धदेवता ' **काली** ' है। वह नरमुण्डमालाका धारण करती है, रक्तका स्नान करती है, शत्रुके सैनिकोंके कीचडमें घूमती और वसामांसमें नाचती है। यह युद्धकाही भयानक दृश्य है। जब ऐसा प्रचण्ड और भयानक युद्ध दक्षतासे किया जायगा, तभी विजय प्राप्तिकी संभावना हो सकती है। पराजयके कारण तीन हैं-एक भयानक अज्ञान, दूसरा भयानक दारिद्य और तीसरा युद्ध करनेकी असमर्थता। इसीलिये महाज्ञान, महाधन और महायुद्ध ये तीन विजय-प्राप्तिके साधन यहां

कहे हैं, यह ठीकही है। एक एक साधनसे पराजयके एक एक कारणको दूर करनेसे निःसंदेह विजय प्राप्त हो सकता है।

अब इस विषयका प्राचीन इतिहास संक्षेपसे कहते हैं-

सम्राट् चैत्रवंश सुरथ

स्वारोचिष मन्वंतरमें चैत्रवंश सुरथ नामका एक बडा सम्राट् हुआ था। इसका साम्राज्य बडा भारी था। इसका राज्यशासन प्रजाके लिये जैसा सुखकारी होना चाहिये, वैसाही था। प्रजाका सुख बढानेके लिये यह सर्वदा प्रयत्नशील रहता था।

तस्य पालयतः सम्यक् प्रजाः पुत्रानिवौरसान्।
(सप्तशती १।१५)

'मातापिता अपने बालबच्चोंका जैसा हित करते हैं, उससे भी अधिक दक्षतासे प्रजाका हित करनेमें वह तत्पर रहता था।' इसका राज्यशासन इस तरह ठीकही चल रहा था, परंतु इसके राज्यशासनमें एक बडा भारी दोष बढ रहा था, जिसका ज्ञान सम्राट्को भी नहीं था, परंतु यह दोष बढता जाता था। वह दोष यह है- 'राज्यशासनके अधिकारी सम्राट्के विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे थे, प्रजाजनोंमें पक्ष और उपपक्ष निर्माण करके, उनको आपसमें लडवा कर वे अपना लाभ कराते थे, शत्रु भी इसकी प्रजामें फूट निर्माण करते थे और अवसर देख रहे थे। पर इसका कुछ भी ज्ञान इस सम्राट्को नहीं था। अर्थात् उनका गुप्तचर-विभाग इस सम्राट्को ठीक ज्ञान नहीं देता था। इसके मंत्री जो इसको कह देते थे वही वह सत्य मानता था और उनपर वह विश्वास रखता था।' इस तरह अन्दरही अन्दर विद्रोहकी आग जल रही थी, पर वह सम्राट् समझ रहा था कि मेरा राज्यशासन योग्य रीतिसे चल रहा है।

उसके सब मंत्री और सब अधिकारी अत्यंत स्वार्थी थे, वे राजाको दूर करनेका अवसर देख रहे थे और अपने स्वार्थकी साधनाके लिये योग्य अवसर ढूंढ रहे थे। वे बाहरसे तो यही बताते थे कि राज्यशासन ठीक तरह चलाया जा रहा है, प्रजाजनोंके झगडे अत्यधिक न बढें और बलवा न हो, इसके लिये जो करना आवश्यक था वह तो करतेही थे और राजाके सामने सब ठीक चल रहा है ऐसा बताते थे। प्रजामें अनेक पक्ष बने थे, शत्रुको भी कई लोग वश हुए थे, देशके विद्रोही अपना विषैला प्रचार करके प्रजामें फूट बढा रहे थे। मंत्री-मण्डल और अधिकारी इस फूटसे अपना लाभ साधनेका भरसक यत्न करते थे, पर सम्राट्तक ये झगडे कभी नहीं पहुंचते थे। इस कारण सम्राट् सुरथ समझता था कि अपना साम्राज्यशासन प्रजाके लिये हितकारी हो रहा है, पर अन्दरही अन्दर आग भडक रही थी, उसका उसको पतातक नहीं था। अर्थात् सम्राट् सुरथ प्रजानिष्ठ राज्यशासक था, पर राजनीतिमें कच्चाही था।

एक समय **कोलासुरोंने** सम्राट् सुरथपर आक्रमण किया। उस समय स्वयं सम्राट्कोही सेनाका आधिपत्य स्वयं लेकर शत्रुका सामना करना आवश्यक हुआ। यही इसके मंत्रियोंका षड्यन्त्र था। पर सम्राट्के ध्यानमें भी वह समयपर नहीं आया। सम्राट्को युद्धपर भेजना, वह युद्धमें लग जानेपर सब राज्य-शासन अपने हाथमें लेना, सम्राट्को राज्यसे हटाना और युद्ध करनेके समय सम्राट्को आवश्यक सैन्य और आवश्यक युद्ध-साहित्य भी न मिलने देना और इस तरह सम्राट्का पराभव होनेपर उसको राज्यमेंही आने न देना, यह इनके षड्यन्त्रका स्वरूप था।

शत्रु बडी तैयारीके साथ आया था। उसने अपनी पिछाडीपर अपनी थोडीसी सेना खडी की थी और शेष सेना-विभागोंसे सम्राट् सुरथपर चारों ओरसे आक्रमण किया। सुरथके पास शत्रुकी अपेक्षा थोडी सेना थी, उसीसे उसको शत्रुको सामना करना पडा। राजधानीसे सेना तथा शस्त्रास्त्रसामग्री आती नहीं थी, मंत्रियोंको बारबार कहने पर भी वहांसे किसी तरहकी सहायता नहीं आयी। ऐसी विलक्षण प्रतिकूल परिस्थितिमें सम्राट् सुरथ लड रहा था। चारों ओरसे प्रचण्ड शत्रुका हमला होने लगा। शत्रुका पिछाडीका सैन्य भी आगे आगया, और चारों ओरसे भयंकर हत्याकांड शुरू हुआ। सम्राट् सुरथका पूर्ण रीतिसे पराभव हुआ। उसका सब सैन्य काटा गया और यशकी कोई आशा नहीं रही। इस तरह पूर्ण पराभूत हुआ सम्राट् सुरथ, अपनी राजधानीमें वापस आकर, कुछ नयी योजना करके शत्रुपर पुनः हमला करनेके वीरोचित विचारसे वापस आने लगा। पर राज्यमें इससे पूर्वही बिगाड हो चुका था और राजा पदभ्रष्ट भी किया गया था।

पराभूत सम्राट् जब अपनी राज्यसीमाके पास पहुंचा, तब उसको पता लगा कि अपनेही मन्त्रियोंने षड्यन्त्र रचकर अपने विरुद्ध कार्यवाही करके राज्यके सब सूत्र अपने हाथमें

लिये हैं और प्रजाको भी वशमें किया है। अतः अब अपने राज्यमें जाना और नयी योजनासे शत्रुपर हमला करना असंभव है। इस तरह दोनों ओरसे हताश होकर वह राजा सुरथ बेचारा अपने राजभवनमें भी न जा सका, धर्मपत्नी और बालबच्चोंको भी न मिल सका, और वैसाही चिन्ताज्वरसे संत्रस्त होकर जैसा युद्धसे वापस आ गया, वैसाही वनकी ओर गया और सुदूर स्थानपर पहुंचकर वहांके ऋषिके आश्रममें विश्राम लेनेके लिये जा ठहरा। '

इस ऋषि आश्रममें सहस्रों ऋषिकुमार नाना प्रकारकी विद्याओं और शास्त्रोंका अध्ययन करते थे, सैकडों ज्ञानी ऋषि और मुनि नाना शास्त्रोंकी खोज करते थे, और मानवी व्यवहारोंके तत्त्व निश्चित कर रहे थे और सब ऋषि और सब ब्रह्मचारी जैसे एकही परिवारके लोग आनन्दसे रहते हैं वैसेही आनन्दसे रहते थे। न वहां ईर्ष्या और द्वेष था, न वैर और कलह था, न विश्वकी स्पर्धासे उनका संबंध था। किसीके साथ शत्रुता नहीं, किसीसे कपटका व्यवहार करनेकी आवश्यकता नहीं, सब वायुमण्डल शान्त रम्य और प्रसन्न था। ऐसे रमणीय वायुमण्डलमें रहनेसे राजाको परम आनन्द हुआ। राजाका जीवन बाहरसे विलासका दिखाई देता है, पर अन्दरसे चिन्ताज्वर राजाको जलाता रहता है, वैसी चिन्ता इस आश्रममें थी ही नहीं। इसलिये राजाको अद्भुत और असाधारण आनन्द हुआ। उसका पराभवका दुःख दूर हुआ और राज्यभ्रष्ट होनेका उद्वेग भी दूर हुआ और वह वनवासियोंके अभौतिक आनन्दमें मग्न हुआ।

सुरथ राजा वहांके आश्रमीय जीवनके साथ समरस हुआ वह ब्रह्मचारियोंके साथ खेलता था, वहांके प्रवचनोंको सुनता था और ऋषिगणोंके साथ नाना शास्त्रोंकी चर्चा भी करता था। बीच बीचमें कभी कभी उसके मनमें प्रजापालन किस तरह हो रहा है, प्रजापर कोई अत्याचार तो नहीं करते, ऐसे विचार आते थे और उस कारण उसको दुःख भी होता था, पर वह थोडी देरही रहता था। इतनेमें एक साहुकार भी वहां आया, जिसका नाम समाधि वैश्य था। वह भी पारिवारिक जनोंद्वारा लूटा गया था, अतः अकिंचन बना था। दोनों समदुःखी होनेके कारण वहां अच्छे मित्र बने और जिस समय दूसरा कुछ कार्य नहीं होता था, उस समय वे अपने सुखदुःखके प्रसंगोंपर विचार करते थे।

एक समय सम्राट् सुरथ और समाधि वैश्य उस आश्रमके मुख्य ऋषिके पास गये, और अपना गत वैभव पुनः कैसा प्राप्त हो सकेगा, इसकी प्राप्तिका उपाय क्या है, ऐसा प्रश्न उन्होंने उस ऋषिसे किया। तब सोचकर ऋषि शान्तिसे बोले—

' हे राजन् ! और हे श्रेष्ठिन् । तुम दोनोंकी आपत्तिका कारण प्रायः एक जैसाही है। तुमने जिनपर विश्वास रखा, उनकी परीक्षा तुम दोनोंको नहीं हुई। हाँ जी, हाँ जी करनेवाले तुम्हारे अधिकारियोंके अन्तःकरणका यथावत् ज्ञान तुम्हें नहीं हुआ। अतः ऐसे स्वार्थी कर्मचारियोंने तुम्हें लूट लिया, यह तुम्हारी अवस्था है। राजकारण और अर्थकारण ये दोनों भोलेपनसे कभी सुफलदायी नहीं हो सकते। अर्थात् तुम दोनोंकी भी जो आपत्ति है, वह तुम्हारे अज्ञानके कारणही तुम्हें भोगनी पडी है। इसका दोष सर्वथा तुम दोनोंपरही है, इसका उत्तरदाता कोई दूसरा नहीं है। तुम्हारे साथके कर्मचारी कैसे हैं, इसका भी ज्ञान तुम्हें नहीं हुआ, उनके षड्यन्त्रका तुम्हें पतातक नहीं लगा, यह परा कोटीकी शिथिलता है।

' देखो, यही सुरथ राजा कैसा धोखेमें आया देखो ! इसके मंत्रियोंके गुप्त षड्यन्त्रका भी पता इसे नहीं लगा ! अपने शत्रुका सामर्थ्य कितना है, वह क्या कर रहा है, इसका ज्ञान इसे नहीं था। अपने राज्यमें क्या हो रहा है, इस विषयमें वह अनजान था, शत्रुकी कार्यवाही कैसी चल रही है, इसका पता इसको नहीं था। ऐसे भोलेपनसे राज्य कैसा चलाया जा सकता है ? सावधानताही राज्यरक्षणका मूल मंत्र है, वह तो इसके पास था ही नहीं।

' ज्ञान, धन और सैन्य इन तीन साधनोंसे राज्य मिलता, मिलनेपर सुरक्षित रखा जा सकता और सुरक्षित रहनेपर बढ भी सकता है। पर जहां ज्ञानही नहीं, वहां अन्य साधन किस तरह सहायक हो सकते हैं ? इस सम्राट् सुरथका साम्राज्य विनष्ट होनेका मुख्य कारण इसका अज्ञानही है। अज्ञानही बन्धनका हेतु है और ज्ञानही बन्धननिवृत्तिका कारण है। अब पूर्व वैभव प्राप्त करनेके लिये इसको (ज्ञान) **महासरस्वती**, (धन) **महालक्ष्मी** और **महाकाली**-(युद्धसामर्थ्य) को प्रसन्न करनेका यत्न करना चाहिये। इस विषयमें दो तीन प्राचीन इतिहास मैं तुम्हारे हितके लिये सुनाता हूँ, उनको तुम दोनों मननपूर्वक ध्यानसे सुनो—

मधु-कैटभोंका उपद्रव

जगत्‌की शासनव्यवस्थाके कार्य ब्रह्मा, विष्णु और शंकरने आपसमें बांट लिये थे। ब्रह्मदेवके पास शिक्षाका विभाग दिया था, विष्णुने अन्तर्गत सुरक्षाका कार्य लिया था और श्री शंकरने युद्धके प्रबंधको अपने हाथमें रखा था। इस तरह *त्रिलोकी का शासन हो रहा था। ब्रह्मदेवने सरस्वतीको नवचैतन्य देकर विद्याकी वृद्धि ऐसी की कि चौदह विद्याएं और चौसष्ट कलाओंमें ऐसी उन्नति हो गयी कि सर्वत्र नयी कला, नयी कल्पना और नयी रचना दीखने लगी। सर्वत्र नव जीवन दीखने लगा। नवनि ज्ञान, नवीन संस्कार, नवीन विचार, नयी खोज, नयी कारीगरी सर्वत्र होनेसे सब जगह नयी सृष्टिही बनने लगी। इसलिये पुराण पद्धतिको चिपकनेवालोंका क्रोध ब्रह्मदेवपर हुआ और उन्होंने इनका आदरसत्कार करना भी छोड दिया। इतना होनेपर भी ब्रह्माजीने अपना सरस्वतीकी उपासनाका और नयी रचना करनेका कार्य नहीं छोडा।

ब्रह्मचर्य पालन करना, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक शास्त्रोंकी खोज करना और सरस्वती अर्थात् विद्या-देवीकी उपासनामें दत्तचित्त होना, यह ब्रह्माजीका जीवन-कार्य हुआ। सतत इसमें दत्तचित्त होनेसे शारीरिक बलकी क्षीणता बढ गयी और अपना संरक्षण करनेकी भी उनकी शक्ति नष्ट हो गयी। स्वसंरक्षण करनेकी भी अक्षमता इस तरह ब्रह्माजीके व्यवहारसे अत्यधिक बढ चुकी।

इधर महाविष्णुने महालक्ष्मीको अपने अधीन करके धन, ऐश्वर्य, संपत्ति आदिका विपुल प्रमाणमें संवर्धन किया। सब प्रान्तों और स्थानोंमें सुख और समृद्धिकी वृद्धि हुई। स्वयं विष्णुने गोपालकृष्ण बनकर, गोरक्षा करके, बैलोंकी वृद्धि करके, उत्तम खेती की और जनताको सुखका सच्चा मार्ग बताया। सर्वत्र धनधान्यकी विपुलता होनेसे प्रजाजनोंके अन्दरके विद्वेष दूर हुए। इस कारण अन्तर्गत सुव्यवस्था करनेके लिये तथा सुरक्षाके लिये करनेयोग्य कार्य विष्णुके पास कुछ भी नहीं रहा। सब जनता अपने अपने स्थानपर सानन्द और प्रसन्न रहने लगी और परस्पर विद्वेषका नामतक नहीं रहा। इस कारण नगररक्षक, ग्रामरक्षक और वनरक्षकोंके लिये आवश्यक करने योग्य कार्य कुछ भी नहीं रहा। इसलिये प्रत्येक कर्मचारी अपने अपने कार्यालयमें सचमुच निद्रा लेने लगा। इसी कारण महा-विष्णु भी अब अपने लिये कुछ कर्तव्य न रहा ऐसा समझ कर आनन्दमें रहने लगे। कर्तव्य न रहनेके कारण सब कर्मचारी शिथिल होने लगे। सबके हथियार जंगसे खराब होने लगे, क्यों कि उनका प्रयोग करनेका अवसरही नहीं आया। सब *त्रिलोकीमें शान्ति स्थिर रहनेके कारण सब संरक्षणकोंके जीवनमेंही संपूर्ण शिथिलता होने लगी।

भगवान् शंकरका कार्य विदेशी शत्रुओंसे युद्ध करना, उनका नाश करना अर्थात् संहारका कार्य था। इनका कार्यक्षेत्र तिब्बत के कैलास मानस सरोवरसे लेकर रामेश्वरतक था। वीरभद्र इनके मुख्य सेनापति थे। महाविष्णुके सुप्रबंधसे अन्तर्गत अराजक नहीं रहे और वीरभद्रकी सुसज्ज सेनाके कारण विदेशके शत्रु आक्रमण करनेका साहस नहीं करते थे। इसलिये भी इनकी सेनाके लिये भी कोई कार्य न रहा। इसलिये श्री शंकरभी अपने योगसाधन और ध्यानधारणामें मस्त रहने लगे।

अन्तर्गत छोटेसे अराजकके दूर करनेके लिये वीरभद्रकी सेनाको बुलानेकी आवश्यकता नहीं थी। वह कार्य महाविष्णुके संरक्षक दलसे होना संभव था। जब बडे सैन्यके साथ कोई दुष्ट शत्रु आजाय, तभी वीरभद्रकी सेनाको बुलाना योग्य था। पर वैसी आवश्यकताही नहीं हुई, इसलिये वीरभद्रकी सेना भी

---

* **त्रिलोकी**=(१) त्रिविष्टप, तिब्बत, (२) आर्यावर्त, (३) पाताल (समुद्र समतलका प्रदेश)। ये तीन प्रदेश मिलकर एक महाराज्य था। इसमें विद्याप्रचार ब्रह्मदेव करता था, अन्तर्गत सुरक्षा विष्णुके अधीन थी और विदेशी शत्रुके साथ युद्ध करनेका कार्य श्री शंकर करते थे। त्रिविष्टपमें देवजाति, आर्यावर्तमें आर्यजाति और पातालमें नाग तथा सर्पजातिके लोग रहा करते थे। **इन्द्र** और **उपेन्द्र**, अध्यक्ष और उपाध्यक्षके समान अधिकारवाले देव थे। **इन्द्र** तिब्बत आदि स्थानका राज्यव्यवहार देखता था और **उपेन्द्र** मानवोंकी सुरक्षा करता था। **उपेन्द्र, विष्णु** और **नारायण** एकहीके तीन नाम हैं। (नार) नरोंमें (**अयन**) आने-जानेका, नरोंके संरक्षणका कार्य करनेवाला **नारायण** कहलाता है। इन्द्र और उपेन्द्रके ये कार्य थे। **भूत**जाती भूतानमें और पश्चिम भूविभागमें **असुर, राक्षस, दैत्य, दानव** आदि जातिके लोग रहा करते थे। मानवजातिके ये निवासस्थान विदित होनेसे प्राचीन कथाएँ तथा उनके युद्धादि प्रसंग कैसे और क्यों हुए, इसका ठीक पता लग सकता है।

सुस्तीमें पडी रहने लगी।

ब्रह्मदेव विद्यामें मग्न, विष्णु आनन्दमें निमग्न और शंकर योगसाधनमें तत्पर रहनेके कारण सब स्थानकी संरक्षणकी व्यवस्था शिथिल हुई। यह देखकर **मधु और कैटभ** इन दो गुण्डोंने इस त्रिलोकीमें अराजकता उत्पन्न करनेका विचार किया। इन्होंने देखा कि सबसे अधिक निर्बल और स्वसंरक्षण करनेमें पूर्णतया अक्षम ब्राह्मणप्रणी पूर्व दिशामें ब्रह्मलोक-निवासी ब्रह्माजीही हैं, इसलिये सबसे प्रथम पूर्व दिशाके ब्रह्माजीके क्षेत्रमें इन्होंने सबसे प्रथम गडबडी मचानेका प्रारंभ किया। हत्याकाण्ड, आग लगा देना, लूटमार आदि ब्रह्माजीके देशमें शुरू हुआ। ब्रह्माजी घबरा गये और वे विष्णुदेवके पास पहुँचे। वहाँ विष्णु सोये पडे थे। उनको जगा कर मधु और कैटभोंके उत्पातोंका वृत्त निवेदन किया। तब विष्णुके पास जो भी रक्षकदल उस समय मिल सका, वह लेकर वे मधु-कैटभोंका नाश करनेके लिये दौडे।

अपनेही सोये और शिथिल रहनेसे अर्थात् अपनेही दोषसे मधु और कैटभ प्रमत्त हुए और सहस्रों ज्ञानी प्रजाजनोंका नाश करनेमें वे कृतकार्य हुए, यह विष्णुने जान लिया और यह बडाभारी प्रमाद हुआ यह उन्होंने समझ लिया। पर अब इस पश्चात्तापसे क्या बनेगा? "हमनेही प्रेमसे इन मधु-कैटभोंका पालन किया था, पर अब येही आज हमारे सिरपर नाचने लगे हैं और हमाराही नाश करनेका कार्य ये कर रहे हैं। हमारी उदासीनताके कारणही ये ऐसे प्रबल बने हैं। यदि समयपर दक्षतासे हमारा कार्य होता रहता, तो यह कठिन समय आताही नहीं, पर अब करना क्या? अब तो घरेलू युद्ध अनिवार्यही है।"

महाविष्णु अपनेसे जितका हो सकता था, उतना करने लगे थे, पर उससे मधु-कैटभोंका उपद्रव कम नहीं होता था। क्यों कि वे युद्धमें प्रवीण थे, युक्ति-शक्ति-बुद्धिमें अग्रगामी थे। अपने शरीरके अवयव × जिस प्रेमसे पाले और पोसे जाते हैं, उस प्रेमसे इनका पालन प्रारंभसे होनेके कारण प्रारंभमें इनको बडी सहूलियतें मिलती थीं। उन्होंने स्वार्थ-वश होकर उन सहूलियतोंसे अपनी शक्ति बहुतही बढायी, बडी संघटना की और ब्रह्माजीकी विद्यासंस्थाकाही नाश सर्व प्रथम करनेके लिये वे उनपर हमला करने लगे।

ब्रह्माजी अपनी सुरक्षा करनेमें असमर्थही थे। वे अपने स्थानसे भागे। यही भागनेका एकही कार्य उनसे हुआ। विष्णुको विदित होतेही वे युद्धके लिये सिद्ध हुए। पर इनके रक्षक बहुत समयसे शिथिल होनेके कारण विष्णु भी मधुकैटभोंसे पराजितही होते रहे। विष्णुने अपनी ओरसे बडा जोर किया, पर उनका पराभव भी वे न कर सके, तब उन्होंने उन असुरोंसे कहा कि—

विष्णु बोले— हे मधुकैटभो! तुम्हारी शूरतासे मैं बडा प्रसन्न हुआ हूं, तुम तो युद्ध करनेमें बडेही कुशल हो। तुम्हें धन्यवाद है। अब जो चाहिये सो वर मुझसे मांगो।

मधु-कैटभ बोले— (विष्णुका पराभव करनेके कारण बडे घमंडसे उन्मत्त हुए थे, अतः वे घमण्डसे ही बोले)— 'हे विष्णो! हमने तुम्हारा पराभव किया है, पराभूत शत्रुसे कौन वर मांगेगा? हम दोनों विजयी हैं, अतः तूही हमसे जो चाहिये सो वर मांग, हम वह तुम्हें दे देंगे।

मधुकैटभोंको घमण्ड हुई है, यह देखकर विष्णुको मनही मनमें बडा आनन्द हुआ; क्योंकि गर्व होनेसे प्रमाद होते हैं और प्रमादी शत्रुका पराभव होनेकी संभावना होती है। इसलिये यह अवसर अच्छा है, ऐसा जानकर महाविष्णु उनसे बोले— 'अच्छा, हे असुरो! तुम कहते हो वैसाही हो जाय। मुझे जो चाहिये सो ही तुम देनेको सिद्ध हो, तो यही मुझे वर दो कि तुम्हारा वध मेरेही शस्त्रसे हो जाय।'

यह विष्णुका भाषण सुनकर गर्वसे उन्मत्त हुए वे दोनों

× विष्णुके शरीरसे ये मधु और कैटभ निर्माण हुए (**विष्णुकर्णमलोद्भूतौ** ॥ सप्तशती १।६८) विष्णुके कानोंके मलसे ये पैदा हुए। विष्णु जनताकी सुरक्षाका कार्य करनेके कर्मचारी थे। अन्तर्गत सुरक्षाका उत्तरदायित्व उनपर था। इनके कानोंका मल यह है जो आज तीनों लोकोंका नाश कर रहा है। विष्णुके कानोंमें मलीनता बढ गयी, सच्ची बातें सुननेमें वे दत्तचित्त न रहे, यह दोष समयपर दूर न हुआ। इस कारण राष्ट्रमें अराजक दुष्ट बढ गये। वह दूर करते करते विष्णु बडे दुःखी हुए। इससे यह बोध मिलता है कि कर्मचारियोंको उचित है कि वे अपने कार्यक्षेत्रमें कहीं भी दोष बढने न दें। जहां दोष बढेगा वहीं असुर निर्माण होंगे और उनसे सबको क्लेश होंगे।

असुर घमण्डसे ही बोले- ' अच्छा, मार मार, तुम्हारे पास जो शस्त्र है वह हमपर चला। देखें तो सही, तुम्हारे पास कौनसा ऐसा शस्त्र है जो हमपर भी प्रभावी हो सकता है। "

ऐसा वे बोलतेही थे, इतनेमें ऐसी कुशालतासे श्री विष्णुने अपना सुदर्शन चक्र उनपर चलाया कि वे उसी क्षण कट गये और मरे। घमण्डसे जो असावधानता उनमे उत्पन्न हुई थी, उस कारण इस तरह उनका वध हुआ।

सावधानता

यह प्राचीन कथा ऋषिने सुरथ राजासे कही और इस कथाद्वारा यह पाठ उसे कहा कि ब्रह्माजीके समान केवल विद्या पढनाही समयपर लाभकारी नहीं हो सकता। उस ज्ञान के साथ अपनी संघटना और अपनी स्व-संरक्षणक्षमता भी बढानी चाहिये। इसी तरह विष्णुका प्रजाकी सुरक्षा करनेका कार्य था, वह अन्तर्गत सुव्यवस्थाके होने पर भी, और नगररक्षकोंको बहुत कार्य करनेके लिये न रहनेपर भी सब को सर्वदा और सर्वत्र अवश्यही सावध रहना अत्यावश्यकही है। वे रक्षक सोते रहे यही उनका बडा दोष हुआ था।

सब ठीक चल रहा है, ऐसा समझ कर विष्णु सो गये, और शंकर योगसमाधिमें लगे रहे, यह ठीक नहीं हुआ। सदा जागते रहना चाहिये। सदा सावध रहना चाहिये। कहां क्या चल रहा है, कौन क्या कर रहा है, इसका ज्ञान प्रतिक्षण प्राप्त करना चाहिये। छोटासा प्रमाद बडे अनर्थको उत्पन्न करता है। अतः यह कथा जो उस ऋषिने राजा सुरथसे कही, वह कथा के रूपसे **नित्य सावध रहनेका एक उत्तम पाठही है।** अस्तु इस तरह सबसे प्रथम यह सावधानताका पाठ पढाकर ऋषिने उस राजाको दुसरी एक महत्त्वपूर्ण कथा कही। उसका राजनीतिके साथ संबंध है, वह कथा यह है—

महिषासुरकी तानाशाही

सब देवगण अप्सराओंके साथ क्रीडा करनेमें मस्त थे। स्वदेशकी सुरक्षाके लिये कोई यत्नही नहीं कर रहे थे। विलासी भोग-जीवनके कारण देवजातिमें स्वसंरक्षण करनेकी शक्ति रही नहीं थी, यह देखकर महिषासुरने देवराष्ट्रपर आक्रमण किया। देववीरोंकी तैयारी नहीं थी, इसलिये देवोंका पराभव हुआ और महिषासुर इन्द्रके सिंहासनपर विराजमान हुआ। सब देवराष्ट्र असुरोंके अधीन हुआ। भोगी विलासी जीवनका यह घोर परिणाम होना स्वाभाविकही था।

महिषासुर केवल तानाशाह ही था। मारकाटमें वह प्रवीण था। उसके पास राजनीतिज्ञ बुद्धिमान् मंत्री कोई नहीं था। इसलिये देवजातिके लोग उसके समीप नरमाईसे रहते थे और अन्दर अन्दरसे अपनी संगठना करते थे। इस तरह देवोंकी संगठना बढती रही।

यद्यपि देव पराजित हुए थे, तथापि देवजातिकी संस्कृति बहुतही उज्ज्वल और श्रेष्ठ थी। महिषासुरकी जातिकी सभ्यता वैसी नहीं थी। वे जंगली और मारकाट करनेवाले थे। इसलिये देवजातिकी उच्चता प्रत्येक कार्यमें और स्थानमें सिद्ध होने लगी। असुरोंको प्रत्येक आयोजनामें नीचे देखना पडता था और उस समय देवोंकी श्रेष्ठता सिद्ध होती थी। इस कारण नाना युक्तियोंसे देव अपनी संघटना बढाने लगे। और वे प्रत्येक अवसरसे लाभ उठाने लगे। अन्तमें देवोंकी जो संघटना हुई उसका यह वर्णन है-

चचाल वसुधा चेलुः सकलाश्च महीधराः।
जयेति देवाश्च मुदा तामूचुः सिंहवाहिनीम्॥३५॥
दृष्ट्वा समस्तं संक्षुब्धं त्रैलोक्यं अमरारयः।
सन्नद्धाखिलसैन्यास्ते समुत्तस्थुरुदायुधाः॥३६॥

(सप्तशती अ. २)

देवोंकी गुप्त संघटनासे देववीर सबल हुए। (सिंहवाहिनी) सिंहके समान तरुणोंकी सेना वहां तैयार हुई। शस्त्रास्त्र जमा किये, शत्रुके ऊपर आक्रमण करनेका उनमें धैर्य उत्पन्न हुआ, शत्रुको परास्त करनेके लिये जितनी संख्या चाहिये उतनी देव-संघटनामें हो गई। इस सेनाने पृथ्वी हिलने लगी और पर्वत कांपने लगे। अपनी जातिकी उत्तम संघटना होनेतक देवोंने कोई दिखावेका कार्यक्रम नहीं किया।

जब देवोंको पता लगा कि अब अपने पास जितनी चाहिये उतनी सेना है, शस्त्रास्त्र संग्रह जैसा चाहिये वैसा है, तब देवोंने महिषासुरपर प्रचण्ड आक्रमण किया। वहां जो मारकाट हुई, उससे असुरोंका पूर्ण नाश हुआ—

केषांचिद्बाहवश्छिन्नाः छिन्नग्रीवास्तथापरे।
शिरांसि पेतुरन्येषां अन्ये मध्ये विदारिताः॥६०॥

(सप्तशती अ. २)

' कई राक्षसोंके बाहू कट गये, कइयोंकी गर्दनें कट गयी,

कईयोंके मस्तक फट गये और कईयोंके पेट फटकर आतें बाहर आगयीं,' इस तरह जब युद्ध हुआ तब असुरोंका नाश हुआ और देवोंका स्वराज्य देवोंको प्राप्त हुआ। और देवराष्ट्रमें बडा आनन्द मनाया गया।

इस कथाद्वारा ऋषिने सुरथराजाको यह महत्त्वका उपदेश किया कि, शत्रुका पराजय करनेके लिये जो अपनी संघटना करनी है, वह जितनी बलशालिनी होनी चाहिये, उतनी होनेतक कोई चढाईका कार्यक्रम करना योग्य नहीं है। तैयारी होनेतक चढाई करनेसे अपनीही हानि होगी। इसलिये शीघ्रता करना उचित नहीं है। अपनी संघटना प्रबल होनेतक तथा साधनोंका जुटाव यथा योग्य होनेतक चुपचाप रहनाही योग्य है। तैयारी होनेके बाद शत्रुपर ऐसा आघात करना कि उसी आघातसे वह नष्ट भ्रष्ट हो जाय और अपना विजय हो जाय।

राजा सुरथने जो शत्रुसे संग्राम किया था, वह उसकी योग्य तैयारी न होनेकी अवस्थामें ही किया था। वह युद्ध-शास्त्रकी दृष्टिसे अयोग्य था, यह ऋषिने उसे बताया और आगे वैसी अशुद्धि न करनेके लिये भी उसको सावधान किया। इन दोनों दृष्टियोंसे यह कथा बडीही बोधप्रद है। इसके पश्चात् ऋषिने सुरथ राजाको एक तीसरी कथा कही, वह तो राजनीतिकी दृष्टिसे बडीही बोध देनेवाली है, अतः वह कथा अब देखिये—

शुम्भ निशुम्भोंकी पकड

देव अपने भोगविलासोंमें पूर्ववत् निमग्न हुए। पूर्व अनुभवसे उन्होंने कोई बोध नही लिया। यह देखकर शुम्भ और निशुम्भोंने देवराज्यपर हमला किया और देव तो सर्वथा असावधान थे, इसलिये पराभूत हुए। ये शुम्भ निशुम्भ राज्य-प्रबंधमें बडेही कुशाल थे, इसलिये उन्होंने देवजातिका संपूर्ण नाश करनेकी बडी भारी आयोजना रची और वैसा राज्यप्रबंध शुरू भी किया—

ततो देवा विनिर्धूता भ्रष्टराज्याः पराजिताः।
हृताधिकाराः त्रिदशाः ताभ्यां सर्वे निराकृताः।
(सप्तशती अ. ५।४-५)

' उन असुरोंने देवोंका पराभव किया, उनका राज्य छीन लिया, उनका सर्वस्व हरण किया, देवोंको जो डाला, अर्थात् उनके पास कुछ भी नहीं रखा। वे बेकार हुए, निर्धन बने, भूखे प्यासे रहने लगे, (हृताधिकाराः) राज्यप्रबंधके कार्यसे वंचित रखे गये, राज्यके अधिकारस्थानोंसे देवोंको हटा दिया और उनपर सब असुरोंकी भरती की।'

शुम्भ- निशुम्भोंका यह प्रबंध बडाही कठोर रीतिसे शुरू हुआ। देव-जातिको राज्याधिकारसे वञ्चित रखने और असुरोंको राज्यप्रबंधका अनुभव देनेकाही सर्वत्र प्रबंध किया गया। इससे यह बना—

१ देवजातिके पास जो धन था, वह असुरोंने लूट लिया, इससे देव आर्थिक कष्टमें पडे, उनके पास धन नहीं रहा, पेटकी भूख शान्त करनेके लिये अन्न नहीं था, आच्छादनके लिये वस्त्र नहीं, रहनेके लिये अच्छा घर भी नहीं, काम धंदा नहीं, वह शुरू करनेके लिये साधन नहीं और व्यवहारमें पत भी नहीं।

२ राज्यप्रबंधके अनुभवसे देवजातिको वञ्चित रखनेके लिये असुरोंने ऐसा प्रबंध किया था कि किसी अधिकारके स्थानपर देवजातिके वीरको रखनाही नहीं, इस कारण राज्यव्यवस्थाके अनुभवसे देवजाति पूर्ण रीतिसे वञ्चित रहने लगी और उतनी बेकारी उनमें बढने लगी।

३ दूसरा भी कोई कार्य देवजातिके कर्मचारीको दिया नहीं जाता था, इस कारण प्रत्येक कार्यक्षेत्रमें देवजातिके लोग बेकार रहने लगे। सब कार्य असुर कर्मचारियोंसेही करवाये जाते थे। इसलिये आर्थिक दृष्टिसे देवजाति नीचे जाने लगी।

४ देवजातिके वीर सेनामें भरती नहीं किये जाते थे, ज्ञानी देवोंको शिक्षणालयादि स्थानोंपर भी नहीं रखा जाता था, देवजातिके कारीगरोंको उत्तेजना नहीं मिलती थी, इनका व्यापार-व्यवहार मारा जाता था। इस कारण देवजाति प्रतिदिन हीन और दीन बनने लगी और यही विपरीत स्थिति बढने लगी।

५ जब देवजातिका राज्य था, उस समय सब अधिकारोंपर देवही कार्य करते थे, वहां अब असुर कार्य करने लगे। इससे यह हुआ—

कौबेरं अथ याम्यं च चक्राते वरुणस्य च।
(सप्तशती अ. ५।३)

कौबेरं निधिपालनादि कर्म, याम्यं निग्रहादि कर्म, वरुणस्य जलरक्षणादि कर्म, चक्राते अनुष्ठितवन्तौ।
(सप्तशती-टीका)

राष्ट्रके सब आर्थिक व्यवस्थाका कार्य कुबेरके पास था, दुष्टोंको दण्ड देनेका कार्य यमके पास था, समुद्रकी सुरक्षा तथा नौकाव्यवहारका नियमन करनेका कार्य वरुणके पास था, इसी तरह अन्यान्य कार्य अन्यान्य देवोंके पास था, वह देवोंसे निकाल कर वह असुरोंके अधीन कर दिया। इससे देवजाति पूर्ण रीतिसे बेकार हुई और सब शासनके अनुभव असुरोंको मिलने लगे।

इस तरह की भयानक बेकारीका अवसर देवजातिके लिये इससे पूर्व कभी नहीं आया था। इस कष्टमय अवस्थामें पडी देवजाति मूढसी बन गयी, क्यों कि इस अवस्थाको हटानेका उपाय उनको कुछ भी दीखता नहीं था। इस बुरी अवस्थाका परिणाम पुरुषोंपर तो हुआही, पर इसका बहुतही बुरा परिणाम स्त्रियोंपर अत्यधिक हुआ, क्योंकि घरवालोंके पालनपोषणका भार स्त्रियोंपर अधिक रहता है और बेकारीका परिणाम स्त्रियोंको प्रत्यक्ष अधिक दीखता है। इस कारण इस समय स्वराज्य-प्राप्तिकी हलचल स्त्रियोंमें प्रथम शुरु हुई और वेगसे बढने लगी। जो हलचल स्त्रियोंतक पहुंचती है और जिस हलचलके सूत्र स्त्रियोंके द्वारा चलाये जाते हैं, वह हलचल शीघ्र बंद नहीं हो सकती। इस समयकी हलचल देवजातिकी स्त्रियोंके द्वारा चलायी जानेके अनेक कारण हुए। उनमेंसे मुख्य कारण यह है—

देवजातिमें भयानक बेकारी होनेके कारण पकानेके लिये स्त्रियोंको अन्नधान्य मिलना भी बंद हुआ। उनके बालबच्चोंकी आपदा बढने लगी। इसलिये बालकोंकी आपत्ति देखकर देवस्त्रिया दुःखी हो गयीं और उन्होंने स्वराज्यके लिये हलचल शुरू की।

यह हलचल स्त्रियोंकी होनेके कारण प्रारंभमें वह गुप्त थी। पश्चात् सब स्त्रियों इस हलचलमें शामिल हो गयीं और वह हलचल बढने लगी। शुम्भ और निशुम्भ जागृतही थे। जब उन्होंने जान लिया कि यह स्त्रियाही हैं, तब उन्होंने इस हलचलकी ओर प्रथम तिरस्कारकी दृष्टिसे देखना प्रारंभ किया। पश्चात् उनको मालूम हुआ कि यह स्त्रियोंकी हलचल होनेपर भी क्षुद्र नहीं है, तब वे सोचने लगे कि इसके विषयमें क्या करना चाहिये? अन्तमें शुम्भने निश्चय किया और अपना एक दूत मुख्य देवीके पास भेजा और उस देवीसे कहा कि 'तू मेरी पत्नी हो।' इसकी इच्छा यह थी कि मैं सम्राट् हूं, अतः यदि देवी अपनी पत्नी बनेगी, तो सब हलचल बंद हो जायगी और अपना साम्राज्य चिरकाल रहेगा। पर देवी इस तरह प्रलोभनमें फँसनेवाली नहीं थी। वह अपनी जिम्मेवारीको अच्छी तरह जानती थी। स्वराज्यकी हलचल बंद करनेसे देवजातिका नाश कैसा होगा, यह सब वह जानती थी। इसलिये उन्होंने उस दूतद्वारा जो तेजस्वी उत्तर दिया वह इस तरह है—

यो मां जयति संग्रामे, यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति॥
तदागच्छतु शुम्भोऽत्र निशुम्भो वा महाबलः।
मां जित्वा किं चिरेणात्र पाणिं गृह्णातु मे लघु॥

(सप्तशती ५।१२०-१२१)

'युद्धमें जो मेरा पराभव करेगा, जो शक्तिमें मेरा गर्व दूर करेगा, जो मेरे समान बलशाली होगा, वही मेरा पति होगा। इसलिये शुम्भ आजाय अथवा महाबली निशुम्भ आजाय, कोई मेरे साथ आकर युद्ध करे, मेरा पराभव करे और सत्वर मेरा पाणिग्रहण करे, मेरे साथ विवाह करे।'

यह उत्तर देवीकी ओरसे भेजा गया। शुम्भ-निशुम्भ जैसे विजयी सम्राटोंको यह उत्तर किस तरह सहन हो सकता है? इस उत्तरका सीधा अर्थ युद्धकी सिद्धताही था। और वैसा ही हुआ। इस समय देवसेनाका संचालन करनेवाली ये देवियाँ थीं- ब्राह्मणी, माहेश्वरी, चन्द्रेश्वा, वैष्णवी, दुर्गा, कौमारी, अम्बिका, नारसिंही, ऐन्द्री, चण्डिका, शिवा, काली, शिवदूती, चण्डा, चामुण्डा। इन देवस्त्रियोंने बडा घोर संग्राम किया और बडा असुर-संहार हुआ। इसका वर्णन शब्दोंसे नहीं हो सकता, पर संक्षेपसे उसका यह वर्णन है—

असुरासृग्वसापंकचर्चितस्ते करोज्ज्वलः।

(सप्तशती अ. ११।२८)

'असुरोंके रक्त मास वसा आदिसे इस देवीके हाथ भर गये थे। शरीर मासके कीचडसे भर गया था।' यह युद्धका वर्णन है। ऐसा युद्ध करनेसे और ऐसी तैयारी करनेपर स्वराज्य प्राप्त हो सकता है। इस वीराङ्गनाओंकी योग्यता कैसी थी, सो देखिये—

विद्यासु शास्त्रेषु विवेकदीपेषु
आद्येषु वाक्येषु च का त्वदन्या॥ (सप्त. अ. ११।३१)

'विद्या, तर्क, विचार, वेदवचन आदिमें तेरी जैसी दूसरी कोई विदुषी नहीं है।' ऐसी विद्वत्ता स्त्रियोंकी हो और पुरुषोंकी भी इससे विशेष हो और वे हलचल करें, सब प्रजाजनोंमें नवचैतन्य निर्माण करके राज्यक्रान्ति हो, तब कभी जाकर अपना स्वराज्य प्राप्त हो सकता है।

ऋषिने सुरथ राजाको ये तीन कथाएं सुनाई और इन कथाओंके द्वारा उसको सब प्रकारकी राजनीति समझायी और अन्तमें उसे ऐसा आशीर्वाद दिया कि-

हत्वा रिपून् अस्खलितं तव तत्र भविष्यति।

(सप्त १४।२०)

'हे सुरथ राजा! तू इस ज्ञानको आत्मसात् करेगा, तो तू शत्रुका निःपात करेगा, और तुम्हारे आचार, व्यवहार और राज्यशासनमें पूर्वके समान कभी अशुद्धियाँ नहीं होगी और तू अपना स्वराज्य निःसंदेह प्राप्त करेगा।'

उन्नतिका सच्चा मार्ग

ऋषिने इन कथाओंके द्वारा जो उन्नतिका सच्चा मार्ग बताया है, वह यह है-

१ अपने प्रयत्नसे विजय प्राप्त करेंगे ऐसा मनमें निश्चय करना चाहिये,

२ अपना पक्ष शुद्ध और निर्दोष रखना,

३ आत्मा, बुद्धि, अहंकार, मन, इंद्रिय, शरीर, समाज, राष्ट्र, विश्व और इनका परस्पर संबंध इनका यथायोग्य ज्ञान प्राप्त करके, इनके विषयका अज्ञान दूर करना,

४ प्राप्त किया हुआ ज्ञान तेजस्वी रखना, मलिन होने नहीं देना, सतत ज्ञानसे जाग्रति करना,

५ अपना जीवन त्यागपूर्ण और यज्ञमय करना, जैसी दीपकी बत्ती जलती है और दूसरोंको प्रकाश देती है, वैसा अपना जीवन जनताके लिये समर्पित करना,

६ बडी विद्या, बडी संपत्ति और बडी युद्धशक्ति प्राप्त करना,

७ सतत अपनी संघटना करना और सदा सावधान रहना,

८ अपने अन्दर तथा अपने प्रबंधमें दोष न होने देना, प्रमाद न करना,

९ अपनी उत्तम संघटना होनेतक शत्रुपर आक्रमण न करना, अपनी हलचलकी प्रसिद्धि न करना और सत्यके आश्रयसे अपना कार्य चलाते जाना,

१० अपनी संघटना स्त्रियोंतक तथा नीचेकी श्रेणीतक पहुंचाना, सबकी एकता निर्माण करना और विजय मिलनेतक प्रयत्न जारी रखना।

इस तरहका उपदेश उस सम्राट् सुरथको उस ऋषिने किया। इस तरह विद्या, धन और युद्धशक्ति प्राप्त करके सुरथराजाने अपना स्वराज्य पुनः प्राप्त किया और बडा यश भी कमाया। जो ऐसा ज्ञान, धन और बल प्राप्त करके यत्न करेंगे, वे भी ऐसेही यशस्वी, वर्चस्वी और विजयी होंगे। यही विजयादशमीका संदेश है।

जो पाठक इसको जानेंगे, वे प्रमाद न करते हुए बडे उद्योग करेंगे और स्वराज्य प्राप्त करके विश्वमें विजयी होंगे।

"विजयोऽस्तु"

परमात्मासे (स्वदितम्) स्वादु अर्थात् श्रेष्ठ सर्वोत्कृष्ट (पूतम्) पवित्र करनेवाले मोक्षको (अश्नाति) प्राप्त करता है ॥१॥

' तुलना– गीता और वेदमें कर्मयोगके करनेसे ज्ञानप्राप्ति, और ज्ञानप्राप्तिसे मुक्तिकी प्राप्ति बताई है ॥

(३२) ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥

(भग. अ. ३, श्लो. ३२)

अर्थ– (ये) जो मनुष्य (तु) तो (अभ्यसूयन्तः) नाना प्रकारके दोषोंको आरोपण करते हुए (एतत्) इस (मे) मेरे (मतम्) मतको (न अनुतिष्ठन्ति) नहीं पालन करते । (तान्) उनको (अचेतसः) ज्ञानहीन दुष्टचित्त (सर्वज्ञानवि- मूढान्) सब प्रकारके ज्ञानसे मूढ और (नष्टान्) सर्व प्रकारके पुरुषार्थसे नाश हुआ हुआ (विद्धि) जान ॥३२॥

वेदगीता ' यः पावमानीः– ' मंत्रसे विपरीतार्थ समझना ।

(३३) सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।

(भग. अ. ३, श्लो. ३३)

अर्थ– (ज्ञानवान्) तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानीजन (अपि) भी (स्वस्याः) अपनी (प्रकृतेः) प्रकृतिके (सदृशम्) अनुसार (चेष्टते) चेष्टा करता है अर्थात् अपने स्वभावानु- सारही कर्मोंमें वर्तता है । इसी प्रकार (भूतानि) संसारके प्राणीमात्र ज्ञानी हों वा मूर्ख, मनुष्य हों वा पशु, सबके सब (प्रकृतिम्) इच्छाके विना भी बलात्कारसे अपनी अपनी प्रकृतिमें (यान्ति) प्रवेश करते हैं, अर्थात् अपने अपने स्वभावानुसारही आचरण करते हैं, वहां किसी प्रकारकी (निग्रहः) रुकावट (किम्) क्यों (करिष्यति) करेगी ? ॥३३॥

वेदगीता (मंत्रः)

आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद्वेधसो न वा ।

(अथर्व. १।३२।२)

अर्थ– (अस्य) चारों ओर दृष्टिगोचर अर्थात् प्रतीत होते हुए (भूतस्य) संसारके प्राकृत पदार्थमात्रका (आस्थानम्) आश्रयस्वरूप मूल-प्रकृतिको (तत्) वह सब (वेधसः) ज्ञानी लोग (विदुः) जानते हैं (न वा) या नहीं । अर्थात् कई पुरुष ज्ञानी होते हुए भी इन्द्रियोंका निग्रह नहीं कर सकते ॥२॥

तुलना– गीतामें प्रकृतिको प्रबल माना है क्योंकि ज्ञानी अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार संसारयात्रा चलाता है प्रकृति उस आत्माको अपनी ओर बलात्कार खेंच लेती है । इसलिये मनुष्यमात्रको सांसारिक युद्ध अवश्य करना पडता है । वेदमें भी भूतमात्रके आश्रयभूत प्रकृतिको भी सब ज्ञानी एकसा नहीं जानते, क्योंकि इन्द्रिय-निग्रह महाकठिन होता है यह बताया है ।

(३४) इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

(भग. अ. ३, श्लोक ३४)

अर्थ— (इन्द्रियस्य) प्रत्येक इन्द्रियके (इन्द्रियस्य अर्थे) प्रत्येक इन्द्रियके अपने अपने विषयमें (रागद्वेषौ) राग और द्वेष (व्यवस्थितौ) व्यवस्थित रहते हैं । अर्थात् सब इन्द्रियाँ राग-द्वेष करकेही अपनी अपनी इच्छानुकूल वर्तना चाहती हैं । इसलिये जब जिस इन्द्रियको अपना विषय मिल जाता है, तब वह अत्यन्तही प्रसन्न होकर अपने विषयकी ओर दौडती है । इसलिये साधक (तयोः) इन राग और द्वेष दोनोंके (वशम्) वशमें (न+आगच्छेत्) नहीं पडे । (हि) क्योंकि (तौ) यह राग द्वेष दोनों (अस्य) इस प्राणीके (परिपन्थिनौ) विरोधी और डाकू है अर्थात् दुर्जन हैं, क्योंकि स्वाभाविक कर्तृत्वाभिमा- नमें फंसाकर मार डालते हैं ॥३४॥

वेदगीता (मंत्रः)

यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति ।
अप स्म तं पथो जहि ॥
अप त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम् ।
दूरमधि स्रुतेरज ॥ (ऋ. १।४२।२-३)

अर्थ– (पूषन्) हे देहपोषक × जीवात्मन् ! (यः) जो प्रतिपक्षी राग और द्वेष (नः) सन्मार्गमें प्रवृत्त होनेवाले हमें (आदिदेशति) इस रागद्वेषात्मक मार्गसे चलना चाहिये ऐसे चारों ओर आज्ञा देता है (अघः) जो रागद्वेष पापस्वरूप है अतएव (वृकः) * आत्मतत्त्वके हरनेवाला

× पूषा पोषयत् । (तै.ब्रा. १, २, २, २)
* वृकः = वर्कते इति वृकः तस्करः ।

तस्कररूप है, और (दुःशेवः१) जिसका सुखही दुःखके बराबर होता है यद्वा महा कष्ट देनेवाला है। इसलिये (तम्) उस प्रतिपक्षी पापी रागद्वेषको (पथः) अपने मार्गसे अर्थात् अपने सामनेसे (अप जहि+स्म) अवश्यमेव नाश कर जिससे तू मुक्त हो जावे। हे जीवात्मन् (त्वम्) तू वैसे स्वरूपमें वर्तनेवाले (मुषीवाणम्२) सन्मार्गसे हटाकर दूर चुरा ले जानेवाले चोर (परिपंथिनम्३) डाकू, दुर्जन। (हुरश्चितम्४) कुटिलतासे चलनेवाले, यद्वा कुटिल स्वभाववाले रागद्वेष स्वरूपको (स्रुतेः) अपने आत्मज्ञानके प्रेमके मार्गसे, अर्थात् अपने ज्ञानात्मक मार्गसे (अधि दूरम्) अत्यन्त दूरही (अप+अज) दूर कर ॥३॥

तुलना– गीतामें प्रत्येक इन्द्रिय अपने अपने विषयकी ओर दौडता है, यही इन्द्रियोंका रागद्वेष इस आत्मज्ञानी पुरुषके लिये डाकू है। उन डाकुओंके वशमें न जावे नहीं तो यह प्राणी नष्ट हो जायेगा, ऐसा कहा है।

वेदमें भी जीवको उपदेश दिया है जो डाकू, पापी, चोर, दुःख देनेवाली वस्तु हो उसे अपने सामनेसे हटा देवे। तब जीवात्माका कल्याण होता है।

(३५) श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

(भग. अ. ३, श्लो. ३५)

अर्थ– हे अर्जुन! (स्वनुष्ठितात्) अच्छी तरहसे रीतिके अनुसार नियमसे आचरण किये हुए (परधर्मात्) दूसरे वर्णके धर्मसे (विगुणः) गुणसे रहित (स्वधर्मः) अपने वर्ण और अपने आश्रमका धर्म (श्रेयान्) श्रेष्ठ है। इसलिये (स्वधर्मे) अपने धर्ममें (निधनम्) मर जाना भी (श्रेयः) कल्याणकारक है। क्योंकि (परधर्मः) पराया धर्म अर्थात् दूसरे वर्णका धर्म (भयावहः) भयदायक होता है ॥३५॥

वेदगीता (मंत्रः)

वृषा जजान वृषणं रणाय तमु चिन्नारी नर्यं ससूव। प्र यः सेनानीरध नृभ्यो अस्तीनः सत्वा गवेषणः स धृष्णुः॥

(ऋ. ७।२०।५)

अर्थ– (वृषा) जगत्के सिंचन करनेवाले और प्राणीमात्र पर अपनी दयादृष्टिकी वर्षा करनेवाले परम-पिता परमात्माने (वृषणम्) जगत्में परमात्माकी दयादृष्टिसे सिञ्चित किये हुए और संसारमें आकर लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणादि विचारोंके वर्षा करनेवाले जीवात्माको (रणाय) लोकयात्रारूपी युद्धके लिये (जजान) उत्पन्न किया। अर्थात् जीवात्मा अपने अपने धर्ममें स्थित होकर जीवनयात्राको करें न कि दूसरे वर्णके धर्मको करें। इसलिये परमात्माने (तम्+उ) उसके लिये (नर्यम्) मनुष्योंके हित करनेवाले पदार्थोंको और (नारीः) कर्मफलके देनेवाली नर शक्तियोंको (ससूव) उत्पन्न किया (अध) और (यः) अपने धर्ममें स्थित हुआ हुआ जो पुरुष (नृभ्यः = विभक्ति व्यत्ययः) मनुष्योंके (सेनानीः) अपने अपने वर्णधर्मके अनुकूल कर्मरूपी सेनाओंको चलाता हुआ (प्र+अस्ति) प्रकर्षतासे संसारमें वास करता है या स्थित रहता है। (सः) वह पुरुष (धृष्णुः) अपने धर्ममें कठिनताको धारण करनेवाला अथवा दूसरेके धर्मको दूर दबानेवाला, (गवेषणः) इन्द्रियोंके धर्मोंको ढूंढनेवाला यद्वा अपने वर्ण-धर्मानुसार परमात्माको ढूंढता हुआ (सत्वा) दूसरे वर्णके धर्ममें प्रवृत्त करनेवाले लोभमोहादि शत्रुओंके नाश करनेवाला (इनः) अपनी इच्छाओंका स्वामी हुआ हुआ मुक्तिधामका भागी बनता है ॥५॥

तुलना— गीतामें अपने अपने वर्णानुसार धर्म करनेको श्रेष्ठ बताया है। दूसरे वर्णका धर्म कितनाही सुख देनेवाला क्यों न हो वह भयकारक होता है।

---

(१) दुःशेवः = दुष्टं शेवं यस्यासौ। दुःखेन सेव्यते इति वा सेवितुं दुःशकः यद्वा दुष्टसुखो वा ॥

(२) मुषीवाणम् = मुषीवेति तस्करनाम, मुषीवान् मलिम्लुच इति तन्नामसु पाठात्।

(३) परिपन्थिनम् = 'छन्दसि परि पन्थिपरिपणौ, पर्यवस्थातरि' (पा. ५।२।८९) इति सप्तम्यर्थाभिधेय इति प्रत्ययान्तो निपातितः।

(४) हुरश्चितम् = हुरश्चिनोति इति हुरश्चित्, हुरः कौटिल्ये।

वेदमें भी 'परमात्माने जीवको संसाररूपी युद्धक्षेत्रके लिये उत्पन्न किया' और अपने अपने वर्णानुसार धर्म करनेसेही मुक्ति पाता है ऐसा उपदेश दिया है।

अर्जुन उवाच—

(३६) अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

श्रीभगवानुवाच—

(३७) काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता, अ. ३, श्लो. ३६,३७)

अर्थ— अर्जुनने कहा, हे भगवन्! (अथ) अब यह बताइये (वार्ष्णेय!) वृष्णिवंशमें अवतार लेनेवाले हे श्रीकृष्ण! (अयं) यह (पूरुषः) मनुष्य (अनिच्छन्नपि) अपनी इच्छा न करता हुआ भी (बलात्) जबरदस्तीसे अर्थात् बलात्कारसे (नियोजितः + इव) आज्ञा पाये हुएके समान (केन) किस से (प्रयुक्तः) लगाया हुआ या प्रेरित किया हुआ (पापम्) पापको (चरति) करता है? ॥३६॥

अर्जुनकी इस बातको सुनकर भगवान् कृष्णजीने कहा हे अर्जुन! (रजोगुणसमुद्भवः) रजोगुणसे उत्पन्न हुआ हुआ (एषः) यह (कामः) काम (एषः) यह (क्रोधः) क्रोध (महाशनः) बहुत खानेवाला अर्थात् संपूर्ण संसारको प्राप्त कर जानेवाला और (महापाप्मा) महापापी अर्थात् अत्यन्त दुःखदायी है। तू (इह) यह संसारमें अथवा इस मोक्षरूपमार्गमें (एनम्) इस काम और इस क्रोधको (वैरिणम्) शत्रु (विद्धि) जान ॥ ३७ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

उर्दस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः।
उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः॥

(अथर्व. ७।९५।१)

अर्थ— (अस्य) इस जीवात्माके (विथुरौ) पीडाके बढानेवाले (गृध्रौ) सांसारिक पदार्थोंमें लोभ और मोह करानेवाले काम और क्रोध (श्यावौ) श्यामवर्ण अर्थात् कालस्वरूप महा पापी (गृध्रौ द्याम् इव) मांसमें लालची उडनेवाले आकाशमें गिद्ध पक्षियोंकी तरह हृदयाकाशको (उत्पततः) उच्छलकर प्राप्त होते हैं (उच्छोचनप्रशोचनौ) यह काम और क्रोध शोक बढानेवाले और चिन्तासे देहको सुखानेवाले हैं। (अस्य) इस जीवात्माके (हृदः) हृदयके (उच्छोचनौ) शोकसे सुखानेवाले हैं।

तुलना— गीतामें रजोगुणसे उत्पन्न काम-क्रोधको महापापी और महा शत्रु कहा है।

वेदमें भी स्त्रीपुरुषसम्बन्धी काम और क्रोध मनुष्यके अन्तःकरणको सुखनेवाले, पीडा और कष्ट देनेवाले हैं। ये गीधके समान मनुष्यके अन्तःकरणपर हमला करते हैं अतः इन्हें शत्रु समझकर बंधनमें रखना चाहिये। अर्थात् इन वृत्तियोंका संयम करना चाहिये, संयम करनेसेही मनुष्य सुखी होता है, ऐसा कहा है।

(३८) धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥

(गीता, अ. ३, श्लो. ३८)

अर्थ— (धूमेन) धूएसे (यथा) जैसे (वह्निः) आग (आव्रियते) घेरी हुई रहती है और जैसे (आदर्शः) मुख देखनेका दर्पण (च) भी (मलेन) धूल और मिट्टीसे घिरा हुआ रहता है। और (यथा) जैसे (गर्भः) माताके गर्भमें प्राणीका शरीर (उल्बेन) गर्भको लपेटनेवाले चर्मके पर्देसे अर्थात् झिल्लीसे (आवृतः) लपेटा रहता है। (तथा) वैसेही (इदम्) यह जीवात्माका ज्ञान (तेन) उस पूर्व कहे हुए कामसे (आवृतम्) घेरा हुआ रहता है ॥ ३८ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति। तद् दुष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम्॥

(अथर्व. ९,२,२)

अर्थ— हे परमात्मन्! (यत्) जो काम (मे) मुझ मुमुक्षु जीवके (मनसः) मनको (प्रियं न) पियारा नहीं है। (यत्) जो काम (मे) मेरी (चक्षुषः) आंखको और उसके विषयको (प्रियं न) पियारा नहीं है। (यत्) जिस कारणसे यह काम (मे) मेरा (बभस्ति) तिरस्कार करता है। और कोई पुरुषही कामी और क्रोधी पुरुषकी (नाभिनन्दति) स्तुति नहीं करता और नहीं कामी पुरुषका कोई सत्कार करता है। इसलिये हे परमात्मन्! (तत्) उस कामसे उत्पन्न हुए हुए (दुष्वप्न्यं) बुरे स्वप्नको और उसके फलको (सपत्ने) अपने शत्रुरूप और बुरे पुरुषमें (प्रति मुञ्चामि) परित्याग

करता हूं अर्थात् भेजता हूं। इसलिये (अहं) मैं मुमुक्षु जीवात्मा (कामम्) कामकी (स्तुत्वा) स्तुति करके अर्थात् काम के वास्तविक स्वरूपको जानकर (उत् + भिदेयम्) अपने आपको इस संसारसे और इस कामसे छुडाकर ऊपर उठता हूं, अर्थात् मुक्तिमार्गकी ओर जाता हूं ॥ २ ॥

तुलना— गीतामें जीवके शुद्ध स्वरूपकी मलिनता कामद्वारा बताई है। जैसे प्रकाशक अग्नि धूमसे प्रकाशसे हीन प्रतीत होती है, और जैसे शीशा मैलके आ जाने प्रतिबिम्ब नहीं देता जैसे गर्भ पर्देसे लपेटा हुआ रहता, वैसे यह जीवात्मा कामसे मलिन प्रतीत होता है।

वेदमें भी काम न मनको प्रिय लगता है न आंखको प्रिय लगता है। कामी पुरुषका सब तिरस्कार करते हैं, और कामी पुरुषकी स्तुति कोई पुरुष नहीं करता। कामके परित्यागसे संसारसे मुक्ति होती है, ऐसा कहा है। उपनिषदोंने भी संसारमें बन्धन का कारण कामकोही बताया है। जैसे–

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ॥ (ऋ. १०।१२९।४)

संसारमें मनुष्यके मनके वेगको बढानेवाला सबसे पहिले काम प्रकट हुआ।

कामः संकल्पः, (बृ. १।५।३)

काम एव यस्यायतनम् ॥ (बृ. ३।९।११)

'संसार प्रवृत्तिके लिये पहिले पहिले कामही प्रकट हुआ। काम सारे प्राणिमात्रका आधारस्थान है। यह मनुष्य काममय है।'

कामोऽकार्षीन्नाहं करोमि, कामः करोति, कामः कर्ता, कामः कारयिता, (महानारा. १८।२)

यह सब कार्य कामने किया, मैं कुछ नहीं करता हूं। काम करता है, कामही कार्यको करता है। कामही कर्मको कराता है।

(३९) आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥
(गीता, अ. ३, श्लो. ३९)

अर्थ— (कौन्तेय) हे कुन्तीके पुत्र अर्जुन ! (ज्ञानिनः) ज्ञानी पुरुषका (ज्ञानम्) आत्मतत्त्वज्ञान (नित्यवैरिणा) नित्यके शत्रु (एतेन) इस (कामरूपेण) कामरूप (दुष्पूरेण) कभी न सन्तुष्ट होनेवाली (अनलेन) आगसे (आवृतम्) घेरा हुआ है अर्थात् ज्ञानियोंका ज्ञान कामरूप अग्निके बीच पडा हुआ जल रहा है ॥ ३९ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

कामो॑ ज॒ज्ञे प्र॑थ॒मो नैनं॑ दे॒वा आ॑पुः पि॒तरो॒ न मर्त्याः॑। तत॒स्त्वम॑सि॒ ज्याया॑न् वि॒श्वहा॑ म॒हांस्तस्मै॑ ते काम॒ नम॒ इत्कृ॑णोमि ॥
(अथर्व. ९।२।१९)

अर्थ- (कामः) काम अर्थात् आकांक्षा (प्रथमः) सृष्टिमें सबसे पहिले संसारयात्रा चलानेके लिये (जज्ञे) उत्पन्न हुआ (देवाः) देवताओंने (एनम्) इस कामको (न आपुः) प्राप्त न किया अर्थात् इसको न अपनाया (न पितरः) पितरोंने इस कामको न अपनाया (न मर्त्याः) श्रेष्ठ मनुष्योंने भी इसे न अपनाया। इसलिये देवताओंका देवत्व पितरोंका पितृत्व और मनुष्योंका मनुष्यत्व बना रहा नहीं। इसके अपनानेसे यह सब अपनी अपनी पदवीसे गिर जाते। (ततः) हे काम ! इसलिये (त्वम्) तू (ज्यायान्) कामक्रोधादियोंमें बडा (असि) है। तू (महान्) सबसे बडा (विश्वहा) सब प्राणिमात्रका नाशक है यहां जगत्का बडा नाशक तू है। (काम!)हे काम ! तुझसे बचनेकी इच्छा करता हुआ मैं (तस्मै ते) उस तुझे (इत्) ही (नमः) नमस्कार (कृणोमि) करता हूं अर्थात् तुझे दूरसे मेरी नमस्कार हो, मैं तुझे देखना भी नहीं चाहता।

तुलना— गीतामें नित्य शत्रु कामसे ज्ञानियोंका ज्ञान बन्द रहता है। अतः ज्ञानी होते हुए भी उनकी मुक्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहा है।

वेदमें कामको सब दोषोंसे बडा दोष कहा है और यह कामही सारे संसारका नाशक है अतः ज्ञानी पुरुष इसे दूरसे नमस्कार करें। इसके मुखको भी न देखें ॥

जैसे उपनिषदमें भी कहा है—

य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ॥
(बृ. ३।९।११)

अर्थ— याज्ञवल्क्यजी शाकल्यमुनिसे कहते हैं। हे शाकल्य ! तुमने प्रश्न किया, काममय पुरुष है उसका देवता कौन है ? याज्ञवल्क्यने कहा सो निश्चय करके जानो कि इस काममय पुरुषका देवता स्त्री है ॥

(४०) इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

(गीता, अ. ३, श्लो.४०)

अर्थ– (इन्द्रियाणि) वाक्, चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, त्वग् यह पांचों इन्द्रियाँ, मन और सब तत्वोंको समझनेवाली बुद्धि, यह तीनों (अस्य) इस कामका (अधिष्ठानम्) निवास करनेका स्थान (उच्यते) कहे जाते हैं। (एषः) यह काम (एतैः) इन तीनोंसे अर्थात् इन्द्रिय, मन, और बुद्धिसे (ज्ञानम्) ज्ञानको (आवृत्य) आच्छादन करके (देहिनम्) प्रत्येक देहधारी जीवात्माको (विमोहयति) विशेषतासे मोह लेता है अर्थात् मोहमें डालकर उसके ज्ञानको नाश कर देता है ॥ ४० ॥

वेदगीता (मंत्रः)

अयमग्निरमूमुहद् यानि चित्तानि वो हृदि।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः॥

(अथर्व. ३।२।२)

अर्थ– हे मुमुक्षु जीवात्माओ ! (वः) तुम्हारे (हृदि) मनमें अथवा बुद्धि (यानि) जो (चित्तानि) रूपादि विषयोंको बोध करानेवाली इन्द्रियाँ हैं। (अग्निः) प्रचण्ड तेजवाला (अयम्) यह काम (अमूमुहत्) इनके द्वारा जीवात्माको विशेष करके मोह लेता है। क्योंकि इन्द्रियाँ मन और बुद्धि कामका वासस्थान है। इसलिये वह काम (वः) तुम सब देहधारियोंको (ओकसः) वास्तविक ब्रह्मतत्वके विचार-रूपी निवास-स्थानसे (वि + धमतु) विशेषतासे दूर करता है। और (सर्वतः) चारों ओर सब ज्ञानसे (वः) तुम सब जीवोंको (प्र + धमतु) प्रकर्षतासे दूर करता है ॥२॥

तुलना— गीतामें कामका निवास-स्थान इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि हैं इनके द्वारा यह काम जीवात्माके ज्ञानको आवृत्त रखता है जिससे मोहित रहता है।

वेदमें भी इस कामको अग्निरूप दाहक बताया और यह काम चेतन सत्ता और मन बुद्धिको मोहित कर लेता है जिससे मनुष्य ज्ञानसे दूर रहता है।

(४१) तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

(गीता, अ. ३, श्लो. ४१)

अर्थ– (भरतर्षभ !) हे भरत कुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! जिस लिये काम तेरा पर शत्रु है (तस्मात्) इसलिये (त्वम्) तू (आदौ) आरंभमेंही (इन्द्रियाणि) चक्षुरादि इन्द्रियों और उनके विषयोंको (नियम्य) वशीभूत करके (ज्ञानविज्ञान-नाशनम्) ज्ञान अर्थात् वस्तुओंके तत्त्वके बोधको और विज्ञान अर्थात् इदमहं वस्तुतः मैं कौन हूं इत्यादि अनुभव-ज्ञानके नाश करनेवाले (पाप्मानम्) सब प्रकारके पापोंके मूलरूप (एनम्) इस अपने कामरूपशत्रुको (हि) निश्चयसे (प्रजहि) त्याग कर दे ॥४१॥

वेदगीता (मंत्रः)

अप हत रक्षसो भङ्गुरावतः स्कभायत
निर्ऋतिं सेधतामतिम्। आ नो रयिं सर्व-
वीरं सुनोतन देवाव्यं भरत श्लोकमद्रयः ॥

(ऋ. १०।७६।४)

अर्थ— हे (अद्रयः) न नाश होनेवाले जीवात्माओ ! तुम सब (भङ्गुरावतः) टेढी चाल चलनेवाले यद्वा दुष्ट कर्मोंके करनेवाले यद्वा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके विरोधी (रक्षसः) राक्षस-स्वरूप पापी काम क्रोधादि शत्रुओंको (अप हत) नाश करो। और (निर्ऋतिम्) काम-क्रोधात्मक पापको (स्कभायत) दूरसे ही छोडो अर्थात् उन्हें किसी कारागारमें बंद कर दो। (अमतिम्) काममें प्रवेश करनेवाली खोटी बुद्धिको (सेधत) अपने वशमें सिद्ध करो अर्थात् खोटी बुद्धिको अपने वशमें करो। इसलिये (नः) हमारे लिये भी (सर्ववीरम्) सब श्रेष्ठ पुरुषोंसे धरनेयोग्य (रयिम्) कामके त्यागात्मक ज्ञानको (आ+सुनोतन) चारों ओर अर्थात् सब प्रकारसे सेच दो। और (देवाव्यम्) परमात्माको प्रसन्न करनेवाली (श्लोकम्) स्तुतिको (भरत) सम्पादन करो अर्थात् जिससे तुम भी मुक्ति पदवीको पालो॥४॥

तुलना– गीतामें इन्द्रियोंको अपने वशमें करके पापी और ज्ञानविज्ञानके द्वेषी कामका त्याग करना चाहिये, ऐसा कहा है।

वेदमें भी टेढी चाल चलने और चलानेवाले, राक्षसस्वरूप, और खोटी बुद्धि और काम और क्रोधके परित्यागका उपदेश दिया है तथा ज्ञानकी प्राप्तिमें जोर दिया। काम क्रोधके न होनेसे परमात्माकी स्तुति करनेकी आज्ञा दी है ॥

(४२) इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

(गीता, अ. ३, श्लो.४२)

अर्थ– हे अर्जुन ! (इन्द्रियाणि) पांच ज्ञानेन्द्रिय और

पांच कर्मेन्द्रियोंको स्थूलदेहसे (पराणि) भिन्न अथवा श्रेष्ठ (आहुः) कहा है और (इन्द्रियेभ्यः) इन इन्द्रियोंसे (मनः) संकल्प विकल्पात्मक मनको (परम्) श्रेष्ठ कहा है। (मनसः) मनसे भी (तु) तो (बुद्धिः) निश्चयात्मिका वृत्ति (परा) श्रेष्ठ कही है। फिर (यः) जो (बुद्धेः) बुद्धिसे (तु) भी परतः) परे स्थित है (सः) वही आत्मा है ॥४२॥

वेदगीता (मंत्रः)

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभि-
रसुरैर्यदस्ति । कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र
आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ॥

(ऋ. १०।८२।५; वा. य. १७।२९; तै. सं. ४,६,२,२)

अर्थ- (यत्) जो आत्मा (एना) इस (पृथिव्याः) स्थूल-देहसे (परः) भिन्न और श्रेष्ठ है। और (देवेभिः) चक्षुरादि इन्द्रियोंसे भी (परः) भिन्न और श्रेष्ठ है। (असुरैः) प्राण अपानादि वायुसे तथा पञ्चतन्मात्राओंसे भी (परः) भिन्न और सूक्ष्म (अस्ति) है। जो आत्मा (दिवा) सर्वत्र प्रकाशमय विद्युदादि सूक्ष्म अग्नियोंसे भी (परः) अत्युत्कृष्ट और भिन्न है। अर्थात् जो आत्मा सब पदार्थोंसे भिन्न, सूक्ष्म और श्रेष्ठ है। (आपः) प्राणोंने अथवा जलोंने फिर (कम्) किसे (गर्भं) गर्भकी तरह अर्थात् मध्यकेन्द्रकी तरह सबके ग्राहक तत्त्वको (प्रथमम्) पहिले पहिल (दध्रे) धारण किया (स्वित्) इति प्रश्ने (पूर्वे) सृष्टिके आदिमें उत्पन्न हुए हुए (देवाः) ज्ञानी लोग (यत्र) मध्यमें प्राप्त जिस आत्मतत्त्वमें (सम्+ अपश्यन्त) आपसमें अच्छी तरह मिलकर देखते हैं ॥ २९ ॥(यद्वा)

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो
देवजा इति । तेषामिष्टानि विहितानि धाम-
शः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥

(ऋ.१।१६४।१६; अथ.९।९।१५; तै.आ.१।३।१; निरु.१४।१९)

अर्थ- (साकं जानाम्) स्थूलदेहमें एक साथ उत्पन्न हुए हुएमेंसे (सप्तथम्) सातवी आत्माको (एकजम्) अकेला जन्मा हुआ (आहुः) कहते हैं। अर्थात् इन्द्रियें ५ और ६ मन, ७ वा आत्मा, यह सातों स्थूलमें साथ साथ आए, परन्तु इनमें आत्मा अकेला नित्य बताया गया है। (षट्+इत्) ५ इन्द्रियें छटा मनही (यमाः) आपसमें जुडे हुए हैं। (देवजाः) इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए हुए रूपरसगंधस्पर्शशब्द और संकल्प ६ विषयः (ऋषयः इति) संसारमें गति करनेवाले हैं। (तेषाम्) उन छे इन्द्रियोंके (धामशः) स्थान स्थानके अनुसार (इष्टानि) प्रिय और अभीष्ट (विहितानि) स्थापित किये हुए हैं। (स्थात्रे) सर्वदा स्थिर रहनेवाले नित्य आत्माके लिये (रूपशः) यथाक्रम अपने अपने रूपके अनुसार (विकृतानि) विकृत हुए हुए (रेजन्ते) सामने विषयोंकी झलक दिखाते हैं अर्थात् जीवको संसारमें फंसानेके लिये फिर फिर आते हैं ॥१६॥

जैसे उपनिषद्में भी कहा है—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादधि महानात्मा ॥ (कठो. २।६।७)

अथच—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

(कठो. १।३।१०)

इन श्रुतियोंका अर्थ सुगम है।

(४३) एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

(गीता अ. ३, श्लो. ४३)

अर्थ- हे (महाबाहो!) हे विशाल भुजावाले अर्जुन! तू (एवम्) इस प्रकार (बुद्धेः परम्) बुद्धिसे भिन्न और श्रेष्ठ (आत्मानम्) आत्माको (बुद्ध्वा) जानकर (आत्मना) अपने शुद्ध और निर्मल आत्मासे (संस्तभ्य) योगसमाधि करके अर्थात् समाधिकी सिद्धिकी अवस्थामें स्थिर करके आत्मपरिचय लाभ करता हुआ (दुरासदम्) अत्यन्त दुःखसे प्राप्त होनेयोग्य अर्थात् दुःखसे जीतनेयोग्य (कामरूपम्) इस कामरूप (शत्रुम्) शत्रुको (जहि) नाश कर अर्थात् आत्मज्ञानसे कामको जीत ले ४३

इति श्री सारस्वतान्वयैल्यग्रामवास्तव्यन्यायभूषणोपपदजगन्नाथशास्त्रीकृतायां गीतार्थबोधिन्यां तृतीयोऽध्यायःसमाप्तः ॥

वेदगीता (मंत्रः)

एतानि सोम पवमानो अस्मयुः सत्यानि कृण्वन्द्रविणान्यर्षसि । जहि शत्रुमन्तिके दूरके च य उर्वी गव्यूतिमभयं च नस्कृधि ॥ (ऋ. ९।७८।५)

अर्थ— हे (सोम!) हे शान्तस्वरूप मुमुक्षु जीवात्मन्! तू (एतानि) "गोजिन्नः सोमो रथजिद्धिरण्यजित्स्वर्जिदब्जित्पवते" इति पूर्वमंत्रमें कहे हुए ये (गो) इन्द्रियाँ (रथ) देह (हिरण्य) मन इत्यादि इन (द्रविणानि) पदार्थोंको (सत्यानि) "ब्रह्मैवेदं सर्वं न तद्भिन्नं किञ्चदपि" ऐसे आत्ममय सत्यस्वरूप (कृण्वन्) करता हुआ अर्थात् जानता हुआ, इसलिये (पवमानः) पवित्र होता हुआ (अस्मयुः) यह मेरा आत्माही परमतत्त्व है ऐसे अपने आत्मपरिचयको ढूंढता हुआ (अर्षसि) आत्मपदको प्राप्त होता है। इसलिये जो कामरूप शत्रु (दूरके) तुझे दूर प्रतीत होता है अथवा (अन्तिके) निकट प्रतीत होता है उस (शत्रुम्) शत्रुको (जहि) विनाश कर। हे परमात्मन् अथवा मुमुक्षु जीवात्मन्! इसलिये (नः) आत्मतत्त्वके ढूंढनेवाले हमारे (उर्वीम्) विस्तृत (गव्यूतिम्) गोलोकधामस्वरूप मुक्तिमार्गको (अभयम्) भय रहित अर्थात् संसारमें पुनरागमनके भयसे शून्य (कृधि) कर। क्योंकि कामके परित्यागसे मुक्तिमार्गकी प्राप्ति स्पष्टतया प्रतीत होती है ॥५॥

उपनिषदमें कहा है—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचꣳ स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ (केनो. १।२)

अर्थ— यह आत्मा श्रोत्रका भी श्रोत्र है, और मनका भी मन है, और वाणीकी भी वाणी है, और प्राणका प्राण है, और चक्षुका चक्षु है। क्योंकि यह श्रोत्रादि इन्द्रिय स्वयं कुछ नहीं कर सकते। जबतक देहमें आत्माका वास रहता है तबतक यह चेष्टा कर सकते हैं अन्यथा यह मुर्दा है। इस प्रकार (धीराः) पण्डित (अतिमुच्य) श्रोत्रादिके कारण कलापको छोड़कर अर्थात् ऐसा समझकर कि इन श्रोत्रादि इन्द्रियोंमें कोई शक्ति अपनी नहीं है जो कुछ है केवल आत्माही आत्मा है, ऐसा जानकर (अस्मात् लोकात्) इस लोकसे (प्रेत्य) मरकर अर्थात् लोकैषणा, वित्तैषणा तथा पुत्रैषणाको परित्याग कर (अमृता भवन्ति) अमर हो जाते हैं अर्थात् मोक्षको प्राप्त करते हैं। तथाच—

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च। यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ (कठोप. २।६।८)

अर्थ— अव्यक्तसे परे सर्वव्यापक, लिङ्गसे रहित पर पुरुष है। मनुष्य जिसे जानकर संसारके बन्धनसे छूट जाता है और अमरपदको अर्थात् मुक्तिको प्राप्त करता है। तथाच—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ (कठोप. २।६।१४)

अर्थ— इस पुरुषके हृदय अर्थात् मनमें रहनेवाली जो जो कामनायें है वह जब सारीकी सारी छूट जाती हैं। फिर यह मनुष्य अमृत हो जाता अर्थात् मुक्त हो जाता है और ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।

तुलना— गीतामें पूर्वोक्त दोनों श्लोकोंमें स्थूलदेहसे श्रेष्ठ इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ मन, और मनसे श्रेष्ठ बुद्धि और बुद्धिसे श्रेष्ठ आत्मा है। उस श्रेष्ठ आत्मासे कामरूपशत्रुका नाश करके अमृतपदकी प्राप्ति बताई है।

वेदमें भी देहकी उत्पत्तिके साथही आत्मा प्रकट हुआ। परन्तु इन्द्रियाँ अन्तःकरणसहित विनश्वर हैं आत्मा स्थिर अर्थात् नित्य है। यह इन्द्रियाँ और विषय इस जीवात्माको संसारमें फंसानेके लिये अपने अपने रूपका प्रकाश करती हैं। परन्तु यह आत्मा कामरूप शत्रुका नाश करके आत्मचिन्तन करता हुआ मुक्ति-धामको प्राप्त कर लेता है, ऐसा कहा है।

॥ इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु सांख्य-योगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

इति श्रीसारस्वतान्वयलैयाग्रामवास्तव्यन्यायभूषणोपपद-जगन्नाथशास्त्रि-कृतायां वेदगीतार्थबोधिन्यां वेदगीता-हिन्दीभाषाटीकायां द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ भगवद्गीतायाः चतुर्थोऽध्यायारंभः ।

वेदगीतायाः तृतीयोऽध्यायारंभः ।

श्री भगवानुवाच—

(१) इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।

(२) एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥
(गी. अ. ४, श्लो. १,२)

अर्थ–,श्रीभगवान् कृष्णजीने कहा, हे अर्जुन ! (अहम्) मैंने (इमम्) इस (अव्ययम्) सदा एकरस वर्तमान रहनेवाले अनादि (योगम्) कर्मयोग, और (ज्ञानयोग) को सृष्टिके आदिमें (विवस्वते) सारी क्षत्रियवंशका बीजरूप विवस्वत् राजाको (प्रोक्तवान्) बडे अच्छे प्रकारसे कथन किया था । फिर (विवस्वान्) विवस्वत् अर्थात् आदित्यने (मनवे) अपने पुत्र मनुको (प्राह) बताया, फिर (मनुः) राजा मनुने (इक्ष्वाकवे) अपने पुत्र इक्ष्वाकुको (अब्रवीत्) यह कर्मयोग कहा। हे (परन्तप !) शत्रुओंके नाश करनेवाले अर्जुन ! (एवम्) इस प्रकार (परम्पराप्राप्तम्) सृष्टिके आदिमें आदित्य (विवस्वान्) से लेकर द्वापरतक वंशपरम्परागत प्रणालीसे प्राप्त (इमम्) इस कर्मयोगको (राजर्षयः) जनक, अजातशत्रु, कैकय आदि राजर्षिगण, तथा सनकादि ऋषि (अविदुः) जानते चले आये । इस प्रकार चलते चलते (सः) वह कर्मयोग (इह) द्वापरयुगके अन्तमें अर्थात् हमारे तुम्हारे व्यवहार–कालमें (महता) बहुत (कालेन) दिनोंसे (नष्टः) नाश हो गया ॥२॥

वेदगीता (मंत्रः)

अ॒हं सो अ॑स्मि॒ यः पु॒रा सु॒ते वदा॑मि॒ कानि॑ चि॒त् । तं मा॑ व्यन्त्या॒ध्यो॒३॑ वृको॒ न तृ॒ष्णजं॑ मृ॒गं वि॒त्तं मे॑ अ॒स्य रो॑दसी ॥
(ऋ. १।१०५।७)

अर्थ– हे जीवात्माओं ! (पुरा) सृष्टिके आदिमें (सुते) तुम्हें कर्ममार्गपर अभिसिञ्चन करनेके लिये अथवा तुम्हारे ज्ञानयोगको परिपक्व करनेके लिये (कानि चित्) कई कर्मयोग तथा ज्ञानयोगके प्रकार (यः) जिस (अहम्) मैं परमात्माने (वदामि) कहे हैं अब भी मैं वही हूं । (तम्) उस कर्मयोग और ज्ञानयोगको (आध्यः) विनाशात्मक दुःख (व्यन्ति) प्राप्त हो गये । (वृको न तृष्णजं मृगम्) जैसे पानीकी ओर जाते हुए प्यासे मृगको भेडिया मार्गमेंही भक्षण कर जाता है ऐसे सृष्टिके आदिमें मुझसे उपदेश दिया हुआ कर्मयोग और ज्ञानयोग कालरूपी भेडियेसे नष्ट किये गये । (रोदसी) हे पृथिवी और आकाशमें वास करनेवाले जीवात्माओं ! (मे) मुझ (अस्य) इस परमात्माके (वित्तम्) वचनको जानो अर्थात् इस उपदेशको मुझ परमात्मासे कहा हुआ जानो ॥७॥

तुलना– गीतामें कर्मयोग सृष्ट्यादि कालसे सूर्य वैवस्वतादि राजाओं द्वारा तथा ऋषियों द्वारा परम्परासे आता हुआ, द्वापरके आदिमें लुप्त हुआ है वही आज पुनः कहा गया है ऐसा बताया है ।

वेदमें भी परमात्मा उपदेश देता है । इस सृष्टिके आदि समयमें मैंने कई मार्ग कर्मयोग और ज्ञानयोगमें प्रवृत्त होनेके लिये कहे थे । वही समयरूपी भेडियेसे मध्यमें खा लिये जाते हैं । मुझे रूपान्तरमें वही योग पुनः कहना और समझाना पडता है ।

(३) स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥
(गी. अ.४, श्लो. ३)

अर्थ–हे अर्जुन ! (मे) तू मेरा (भक्तः) शरणागत सेवक (असि) है, (च) और (सखा) मेरा मित्र (च) भी (असि) है । (इति) इसलिये (स एव अयम्) वहही जो यह (पुरातनः) अनादि गुरुपरम्परासे चले आनेके कारण तथा वेदमूलक होनेके कारण प्राचीन (योगः) योग है । वह (अद्य) आज इस समय (मया) मुझसे अर्थात् मेरे द्वारा (ते) तुझे (प्रोक्तः) अच्छी तरहसे कहा गया है क्योंकि (एतत्) यह योग (उत्तमम्) अति उत्तम (रहस्यम्) परम गोपनीय अर्थात् गुह्यतत्त्व है, यह सर्वसाधारणको बतानेयोग्य नहीं है ॥३॥

वेदगीता (मंत्रः)

अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे। अतश्चिदा जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः ॥

(ऋ. ४।१८।१)

अर्थ— हे जीवात्माओ (अयं पन्था) यह कर्मयोगका मार्ग (पुराणः) सनातन अर्थात् सृष्टिके आदिमेंही विवस्वत् आदि राजाओं और ऋषियोंके लिये (अनुवित्तः) यथारीति बताया गया अर्थात् उन राजाओं और ऋषियोंने यह कर्ममार्ग मुझसे जाना। (यतः) जिन विवस्वत् आदि राजाओंसे और ऋषियोंसे (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् पुरुषोंने (उदजायन्त) अच्छी तरहसे उत्कृष्ट कर्मयोग और ज्ञानयोगको पाया। (अतः +चित्) इस कारणही (प्रवृद्धः) यह जीवात्मा कर्मयोग और ज्ञानयोगसे वृद्धिको प्राप्त हुआ हुआ (आ+जनिषीष्ट) अच्छी तरहसे चारों ओर कर्मयोगमें प्राप्त हो (अमुया) इस (मातरम्) कर्मयोग और ज्ञानयोगके माप करनेवाले जीवात्माको (पत्तवे) विनाशके लिये अर्थात् कर्मयोगसे पतन करनेके लिये (मा) मत (कः) कोई प्रयत्न करे ।। १ ।।

तुलना— गीतामें सृष्ट्यादिमें कहे हुए कर्मयोगकी महिमा और पुरातनत्व बताया है। वेदमें भी इस कर्ममार्गको सनातन बताया और इसी कर्मयोगके आधारसे विद्वानोंने मुक्तिमार्गमें प्रवृत्ति की। प्रतिदिन उन्नतिको प्राप्त करके मुक्तिके अधिकारी हुए। कोई भी पुरुष इस कर्मयोगसे पतित न होवे ।।

अर्जुन उवाच—

(४) अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः। कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥

(गीता, अ. ४, श्लो. ४)

अर्थ— अर्जुनने कहा, हे भगवन् ! (भवतः) आपका (जन्म) जन्म (अपरम्) पीछे हुआ है और (विवस्वतः) विवस्वत्का (जन्म) जन्म (परम्) पहिले हुआ इसलिये (त्वम्) तूने (आदौ) सृष्टिके आदिमें (प्रोक्तवान्) यह कर्मयोग विवस्वत्को कहा था (इति) इस प्रकार (एतत्) इस तुम्हारे वचनको (कथम्) कैसे (विजानीयाम्) जानूं ? अर्थात् यह तुम्हारी बात कैसे मान जाऊं, कि उस समय तुम्हारे न होनेपर भी यह रहस्य विवस्वत्को सृष्टिके आदिमें तुमने कथन किया ।।४।।

वेदगीता (मंत्रः)

कथा तं एतदहमा चिकेतं गृत्सस्य पाकस्तवसो मनीषाम्। त्वं नो विद्वाँ ऋतुथा वि वोचो यमर्धं ते मघवन् क्षेम्या धूः ॥

(ऋ. १०।२८।५)

अर्थ— (मघवन् !) हे पूज्य परमात्मन् ! (विद्वान्) सब कुछ जाननेवाले सर्वज्ञ तूने (ऋतुथा) पहिले समयमें ऋतुओंके अनुसार अर्थात् सृष्ट्यादिमें समयानुसार (नः) हम जीवात्माओंको (वि + वोचः) कर्मयोगका अच्छी तरहसे उपदेश दिया था। (पाकः) पकनेयोग्य बुद्धिवाला मैं (ते) तेरी (एतत्) इस बातको (कथा) कैसे अर्थात् किस नियमके अनुसार (आ + चिकेतम्) अच्छी तरहसे जानूं अर्थात् यह तुम्हारी बात कैसे मान जाऊं कि उस समय भी आपनेही कर्मयोगका उपदेश दिया था। और (गृत्सस्य) मेधावी (तवसः) सबसे वृद्ध पुरातन (ते) तेरी (मनीषाम्) ज्ञानको (कथम्) कैसे (आ चिकेतम्) जानूं। इसलिये (तें) तेरी (यम्) जिस (अर्धम्) स्तुतिके आधे भागको करता हूं वह स्तुति (क्षेम्या) कर्मयोगद्वारा मेरा कल्याण करनेवाली (धूः) भार उठानेयोग्य होवे। अर्थात् हे परमात्मन् ! मैं कर्मयोगद्वारा आपकी स्तुतिके भारको उठा सकूं ॥५॥

तुलना— गीतामें अर्जुनने भगवान्से पूछा, आपका जन्म अब हुआ, विवस्वत्का जन्म आपसे पहिले हुआ था, आपने उसे उपदेश कैसे दिया होगा, यह संशय किया गया है।

वेदमें भी 'जीवात्माने परमात्मासे प्रश्न किया, कि आपने सृष्टिके आदिमें वेदोपदेशद्वारा कर्मयोगका उपदेश दिया था यह ज्ञान हमें कैसे हो ?' ऐसा कहा है।

श्रीभगवानुवाच-

(५) बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥

(गीता, अ. ४, श्लो. ५)

अर्थ— श्रीभगवान् कृष्णने कहा। (अर्जुन !) हे अर्जुन ! (मे) मेरे (च) और (तव) तेरे (बहूनि) बहुत (जन्मानि) जन्म (व्यतीतानि) बीत चुके हैं। (तानि) उन सर्वाणि) सब जन्मोंको (अहं) सर्वज्ञ होनेसे मैं (वेद) जानता हूं। परन्तु (परन्तप !) हे शत्रुओंके नाश करनेवाले अर्जुन !

(त्वम्) तू सब जन्मोंमेंसे एक जन्मको भी (न) नहीं (वेत्थ) जानता ॥५॥

वेदगीता (मंत्रः)

उर्दग्रभं परिपाणाद्यातुधानं किमीदिनम् । तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥

(अथर्व. ४।२०।८)

अर्थ- परमात्मा कहता है। हे जीवात्मन् ! (परिपाणात्) जगत्की रक्षाके निमित्त (किमीदिनम्) अब मैं क्या खाऊं, अब मैं क्या खाऊं ऐसा विचार करनेवाले (यातुधानम्) दुष्ट, पापी राक्षसी जीवोंको (उद्+अग्रभम्) पहिले जन्मोंमें वश कर लिया था अर्थात् नाश कर दिया था। (अहम्) मैं परमात्मा (तेन) उस अर्थात् जगद्रक्षाके कारणसे (सर्वं) सब प्राचीन जन्म और (शूद्रम्) शूद्र जातिको (आर्यम्) ब्राह्मणादि वर्णोंके जन्मोंको भी (पश्यामि) मैं देखता हूं वे आर्य और शूद्र अपने पूर्व जन्मोंको नहीं देख सकते ॥८॥ यद्वा

वेदगीता (मंत्रः)

नकिरेषां जनूंषि वेद ते अङ्ग विद्रे मिथो जनित्रम् ॥

(ऋ. ७।५६।२)

अर्थ— परमात्मा कहता है (अङ्ग !) हे मेरे अङ्गरूप जीवात्मन् ! (हि) निश्चयसे (एषाम्) इन तुम जीवात्माओंमें से (जनूंषि) मुझ परमात्माके जन्मोंको (नकिः) कोई भी नहीं (वेद) जानता है। (ते) तुम्हारे (जनूंषि) जन्मोंको (वेद) मैं जानता हूं। परन्तु (मिथः) आपसमें एक दूसरेके (जनित्रम्) जन्मोंको भी (न विद्रे) वे जीवात्मा नहीं जानते ॥२॥

वेदगीता (मंत्रः)

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥

(ऋ. ६।४७।१८)

अर्थ— (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (मायाभिः) अपनी शक्तिसे (रूपं रूपं प्रति) नृसिंह रामकृष्णादि रूपोंमें अथवा प्रति शरीरमें (प्रतिरूपः) रूप-अर्थ अवतार, जन्मको धारण करता (बभूव) है। (तद्+अस्य) अपने अनन्तकल्याणादि गुणोंसे पूर्ण (रूपम्) अपने रूप अर्थात् अवतारवाले जन्म (प्रतिचक्षणाय) संसारमें प्रत्येकको अपनी लीला दिखानेके लिये जन्मग्रहण करता है। (हि) निश्चयसे (अस्य) इस अवतारी परमात्माके (हरयः) सांसारिक दुःखोंको हरण करनेवाले जो रूप (युक्ताः) अपनी शक्तिद्वारा नियुक्त किये हुए हैं। वे (शता) सैंकडों रूप हैं और (दश) उनमें नृसिंहादि दश अवतार तो मुख्य प्रसिद्ध हैं ॥१८॥ जैसे अथर्वशिर०उप.श्रु ६

ॐ यस्मिन्निदं सर्वमोतप्रोतं तस्मादन्यन्न परं किञ्चनास्ति। न तस्मात्पूर्वं न परं तदस्ति न भूतं नोत भव्यं यदासीत् ॥ (अथर्वशिर. उ. ६)

अर्थ— जैसे वस्त्रमें सर्वत्र तंतुही ओतप्रोत रहता है। इस प्रकार जिससे इतर, जिससे परे कुछ भी नहीं है, न उससे पीछे कुछ है, न भूतकालमें कुछ है, न भविष्यकालमें कुछ है। सदा एकरस है जो पहिलेही था। अथ च अथर्वशिर० उप. श्रु. १-

अहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति ॥

अर्थ— भगवान् कहते हैं कि सबसे प्रथम एक मैंही था। मैंही इस वर्तमान समयमें भी हूं। मैंही आगे भी रहूंगा। मुझसे अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ॥

तुलना— गीतामें भगवान्ने अपने अवतारोंके जन्मोंको बताया है सर्वज्ञ होनेसे मैं अपने सब अवतारी जन्मोंको जानता हूं। तुम अपने जन्मोंको नहीं जानते क्योंकि अल्पज्ञ हो।

वेदमें भी परमात्मा अपने स्वरूपको और अवतारी जन्मोंको जानता है। शेष जीव अपने तथा दूसरोंके पूर्व जन्मोंको नहीं जानते, क्योंकि अल्पज्ञ हैं।

(६) अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥

(गीता, अ. ४, श्लो. ६)

अर्थ- (अव्ययात्मा) न नाश होनेवाले ज्ञानशक्तिके स्वभाववाला और न व्यय होनेवाला (अजः) जन्मसे रहित (सन् अपि) होता हुआ भी (भूतानाम्) ब्रह्मलोकसे लेकर तृणपर्यन्त भूतमात्रका (ईश्वरः) स्वामी (सन् अपि) हुआ हुआ भी मैं (स्वाम्) अपनी (प्रकृतिम्) त्रिगुणात्मिका

मायाको (अधिष्ठाय) दबाकर अर्थात् अपने वशमें करके (आत्ममायया) अपनी शक्तिसे न कि कर्मफलोंकी शक्तिसे (संभवामि) प्रकट होता हूं। अर्थात् मैं सचमुच में मनुष्य नहीं होता, परन्तु लोगोंके देखनेमें मैं मनुष्यके समान शरीर धारण किये दिख पडता हूं॥

वेदगीता (मंत्रः)

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः। अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥

(ऋ. ४।२६।१)

अर्थ— (अहम्) मैं परमात्मा (मनुः) सृष्टिके आदिमें धर्मशास्त्रानुसार राज्य-चर्या चलानेवाला (मनुः) मनु (अभवम्) हुआ था। तथा (अहं) मैं (सूर्यः) सबकी प्रेरणा करनेवाला अंशावतारसे विवस्वान् कर्मयोग और ज्ञानयोगके उपदेश देनेवाला हुआ था। मैं (ऋषिः) सर्वव्यापक सर्वद्रष्टा भी (विप्रः)मेधावी (कक्षीवान्) कक्षी= जगत्संचालनरूपा रज्जुः जगतके संचलन और बन्धन करनेवाली रस्सीका स्वामी (अस्मि) हूं या यद्वा बुद्धिमान् कक्षीवान् ऋषि मैं हुआ हूं। (अहं) मैं (आर्जुनेयम्) उषाके पुत्र (कुत्सम्) दिनको (न्यृञ्जे) बिल्कुल अपने वशमें रखता हूं (कविः) क्रान्तदर्शी (उशना) शोभायमान् मैं हूं। हे जीवो! (मा) सर्वव्यापक होते हुवे भी बहुत जन्मोंके लेनेवाले मुझे (पश्यत) देखो। ! यद्वा

उतामृतासुर्व्रत एमि कृण्वन्नसुरात्मा तन्व१स्तत्सुमद्गुः॥ (अथर्व. ५।१।७)

अर्थ– (अमृतासुः) अमर प्राणोंवाला अजन्मा मैं (व्रतः) सारे जगतको नियममें चलानेके व्रतवाला अर्थात् दिव्य कर्म करता हुआ (कृण्वन्) भक्तोंके रक्षात्मक और धर्म-संस्थापनात्मक कर्मोंको करता हुआ (एमि) संसारमें अपनी शक्तिसे प्राप्त होता हूं। इसलिये (आत्मा) मेरा आत्मा और (असुः) प्राण (तन्वः) शरीर यह तीनों (सुमद्गुः) दिव्य-गुणवाले होते हैं।

तुलना— गीतामें आत्मा और परमात्माको अजन्मा, अव्यय कहकर प्रकृतिको अपने आधीन करके अपनी शक्तिसे दिव्यजन्म ग्रहण करता है जो कर्मोंके आधीन नहीं होता, ऐसा कहा है।

वेदमें भी आत्मा परमात्मा दोनोंको अमर अजन्मा होते हुवे भी शरीरके जन्मके साथ इसका जन्म होता है, परन्तु अपनी शक्तिसे और दिव्य कर्मोंसे जन्म लेता है न कि कर्मफलोंके आधार पर ऐसा कहा है॥

(७) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥

(गीता अ. ४, श्लो. ७)

अर्थ— (भारत) हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन! (यदा यदा) जब जब (हि) निश्चय करके (धर्मस्य) धर्मकी (ग्लानिः) अवनति तथा विनाश (अधर्मस्य) और अधर्मका (अभ्युत्थानम्) उदय तथा वृद्धि (भवति) होती है (तदा) तब तब (अहम्) मैं परमात्मा (आत्मानम्) अपने आपको (सृजामि) सृजता हूं। अर्थात् देहधारियोंके समान मैं भी अपने प्रातिभासिक (अर्थात् वस्तुतः शरीर न हो परन्तु स्वाप्निक तथा दार्पणिक शरीरवत् हो) शरीरको धारण करता हूं॥७॥

वेदगीता (मंत्रः)

ऋधङ्मन्त्रो योनिं य आबभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा। अदब्धासुर्भ्राजमानोऽहेव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि॥

(अथर्व. ५।१।१)

अर्थ– (ऋधक्) यह सत्य है (मंत्रः) यह गुप्त रहस्य है। (यः) जो (अमृतासुः) अविनश्वर प्राणोंवाला अर्थात् नित्यजीवी (सुजन्मा) दिव्य जन्मोंवाला (वर्धमानः) शरीरके साथ साथ शक्तिको विस्तृत करता हुआ है। वहही परमात्मा धर्मकी रक्षाके लिये (योनिम्) मनुष्यादि योनिमें (आ बभूव) प्राप्त होता है। (अदब्धासु) प्रकृतिसे न दबनेवाली प्राणशक्तिसे युक्त होकर (अहा इव) दिनकी तरह (भ्राजमानः) प्रकाशमान (त्रितः) ब्रह्मा, विष्णु और महादेवसे युक्त यद्वा रजोगुण तमोगुण, सत्वगुण तीनों गुणोंवाली प्रकृतिको वशमें रखनेवाला (धर्ता) पृथिव्यादि पदार्थोंको धारण करनेवाला (त्रीणि) भूर्भुवः स्वः तीनों लोकोंको (दाधार) धारण करता है॥१॥

इसी मंत्रकी व्याख्या पं. जयदेव वेदालंकारकृत हिन्दी

भाषामें खंड प्रथम पृ. ५१४ पर लिखी है (त्रितः) तीनों लोकोंमें व्यापक परमेश्वर (अदब्ध मंत्र) जोकि वेदमय बृहत् सत्यज्ञानसे युक्त है (अमृतासुः) तथा अमृतमय जीवरूप या अमृतका देनेवाला (सुजन्मा) वह शुभ जन्मग्रहण करनेवाले जीवात्माके समान विराट् सृष्टिरूपसे प्रकट होनेवाला है [यहांपर भी सुजन्माका सीधासाधा अर्थ उत्तम जन्म लेनेवाला है] (वर्धमानः) और अपनी महिमासे महान् है (यः) जोकि (योनिम् आ बभूव) प्रकृतिमें अपनी शक्तिका आधान करता है वह [इसका सीधासाधा अर्थ मूल उत्पत्ति-स्थानको प्राप्त होता है] (अदब्धासुः) अपने शक्तिका नाश न होने देकर (भ्राजमानः) निरन्तर प्रकाशमान रहकर (अहा इव) सूर्यके समान (धर्ता) विश्वका धारक (त्रीणि दाधार) तीनों लोकोंको धारण करता है ॥१॥

तुलना— गीतामें धर्मके विनाश और अधर्मकी उत्पत्तिके समय परमात्मा अपने आपको संसारमें किसी रूपमें प्रकट करता है यह बताया है ।

वेदमें भी अजन्मा, अदब्धासु तीनों लोकोंके धारण करने-वाला परमात्मा दिव्य जन्मवाला भी धर्मकी रक्षाके लिये कई प्रकारकी योनियोंमें प्रकट होता है ।

(८) परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥
(गीता अ. ४, श्लो. ८)

अर्थ— (साधूनाम्) साधुओं और भक्तोंकी (परित्राणाय) रक्षा करनेके लिये तथा (दुष्कृताम्) पापियोंके (विनाशाय) नाश करनेके लिये (युगे युगे) सत्य, त्रेता, द्वापर, कलियुगमें बारबार (धर्मसंस्थापनार्थाय) धर्मकी यथाविधि स्थापना करनेके लिये (सम्भवामि) अवतार लेता हूं अर्थात् प्रातिभा-सिक शरीरसे इस संसारमें अवतार लेता हूं ॥८॥

वेदगीता (मंत्रः)

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ । अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥
(ऋ. १०।१२५।६; अथर्व. ४।३०।५)

अर्थ— (अहम्) मैं परमात्मा, साधुओंकी रक्षाके लिये (रुद्राय, ब्रह्मद्विषे, शरवे) [इन तीनों कर्मको सम्प्रदान माननेसे द्वितीया विभक्तिके स्थानमें चतुर्थी आई है ।] (रुद्रम्, ब्रह्मद्विषम्, शरुम्) रुद्ररूप अर्थात् ऋषि साधुओंको रुलानेवाले और वेद और ब्राह्मणके द्वेषी, हिंसा करनेवाले पापी जीवोंको (उ) निश्चयसे (हन्तवै) मारनेके लिये (धनुः) उनकी क्रूरताके नाश करनेवाली कमानको (आ+तनोमि) अच्छी तरहसे चारों ओर विस्तृत करता हूं । (अहं) मैं परमात्मा (जनाय) भक्तके लिये (समदम्) संग्रामको (कृणोमि) करता हूं । और (अहं) मैं एकदेशमें विशेष विभूतिरूपसे उतरा हुआ (द्यावापृथिवी) आकाश और द्यावापृथिवीमें (आ वि-वेश) प्रविष्ट हुआ हुआ रहता हूं अर्थात् सर्वव्यापक होकर सब जगह रहता हूं ।

इसी मंत्रका अर्थ निखिल-तंत्र-स्वतंत्र श्री. पं. आर्यमुनि प्रोफेसर संस्कृत फिलासफी डी. ए. वी. कालेज लाहोरने भगवद्गीताके योगप्रदीपार्थ भाष्यभूमिका पृ. २३ में. लिखा है—

" मैंही रुद्ररूप परमात्माके धनुषको चढाती हूं, और मैंही वेदके द्वेषियोंके मारनेके लिये उद्यत होती हूं । तथा मैंही दैवी सम्पत्तिके विरोधियोंको नाश करती हूं । और मैं-ही द्युलोक तथा पृथिवी-लोकके भीतर अन्तर्यामी रूपसे व्याप्त हूं'

इस मंत्रमें ब्रह्मवादिनी स्त्रीकी ओरसे परमात्माने आत्मभावका प्रकाश किया है । अर्थात् " अहं " यह उपासनाके भावसे ब्रह्मवादिनी स्त्री अपने आपको परमात्मभावसे कथन करती है ।

इस मंत्रका अर्थ पं. जयदेव विद्यालंकारजीने अपने अथर्व-वेद भाष्य अजमेरमें मुद्रित प्रथम भाग, पृ. ४६६ में ऐसा लिखा है । (ब्रह्मद्विषे) ब्रह्म= वेद ज्ञानके साथ द्वेष करनेवाले, ब्रह्मघाती (शरवे) हिंसक (रुद्राय) और कष्ट पहुंचानेवाले को (हन्तवै) मारनेके लिये (उ) भी (अहम्) मैंही ईश्वर (धनुः) धनुष्यको (आतनोमि) तानता हूं । (अहं) मैं ईश्वरही (जनाय) जन्तुओंके लिये (समदम्) सामू-हिक प्रमोदको (कृणोमि) उत्पन्न करता हूं । (अहं) मैं-ही (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनोंमें (आ विवेश) आविष्ट व्यापक हूं ।

इसका अर्थ पण्डित सातवलेकरजीने अपने अथर्ववेद भाष्य भाग १ कां. ४६ पृ. १६१ में ऐसा लिखा है। (ब्रह्मद्विषे-शरवे-हन्तवै) ज्ञानके द्वेषी घातपात करनेवालेका नाश करनेके लिये (अहं रुद्राय धनुः आतनोमि) मैं रुद्रके लिये धनुष्यको तानती हूं। (अहं जनाय समदं कृणोमि) मैं जनोंके लिये हर्ष देनेवाले पदार्थ उत्पन्न करती हूं। (अहं द्यावा-पृथिवी आ विवेश) मैंने द्यावापृथिवीमें प्रवेश किया है। यद्वा

अनुव्रताय रन्धयन्नपव्रतानाभूभिरिन्द्रः श्नथयन्ननाभुवः। वृद्धस्य चिद्वर्धतो द्यामिनक्षतः स्तवानो वम्रो वि जघान संदिहः॥ (ऋ. १।५१।९)

अर्थ- (इन्द्रः) सर्वैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा (अनुव्रताय) अच्छे व्रतादि नियमोंके पालन करनेवाले सज्जनके लिये (अपव्रतान्) दुष्कर्म करनेवाले पापियोंको यद्वा व्रतादि नियमोंके उल्लंघन करनेवाले दुष्ट पुरुषोंको (रंधयन्) नाश करता हुआ (आभूभिः) संमुखस्तुति करनेवाले भक्तोंसे (अनाभुवः) निन्दक दुष्ट पुरुषोंको (श्नथयन् ×) नाश करता है। (वृद्धस्य) सबसे बडे और (वर्धतः) वृद्धिको प्राप्त होते हुए (द्याम्) आकाशमें भी (इनक्षतः) ⁕ व्यापक परमात्माको (चित्) ही (स्तवानः*) स्तुति करता हुआ (वम्रः) स्तुति करनेवाला (संदिहः §) कर्म और ज्ञानवृद्धिको प्राप्त होता हुआ (विजघान+) विघ्नोंसे रहित हुआ हुआ दुष्टसंगतिको त्याग देता है। यद्वा

ऋतं पिपर्ति, अनृतं निपाति। (अथर्व. ९।१०।२३)

अर्थ- परमात्मा (ऋतम्) सत्यको (पिपर्ति) पूर्ण करता है और (अनृतम्) असत्यको (निपाति) नाश करता है॥

तुलना- गीतामें परमात्मा साधुओंकी रक्षाके लिये और दुष्टोंके संहारके लिये और धर्मकी स्थापनाके लिये समय समयपर अवताररूपमें प्रकट होते हैं, ऐसे कहा है।

वेदमें भी भगवान् समय समयपर ब्रह्मद्वेषी, हिंसक, दुष्ट पुरुषोंके नाश करनेके लिये धनुषको फैलाकर भक्तोंकी रक्षाके लिये युद्ध करता हुआ भी समग्र पृथिवी और आकाशमें व्यापक रहता है, अवतार होने पर परमात्मा एकदेशी हो जाएगा, यह दोष भी दूर हो जाता है, ऐसा कहा है।

(९) जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥ (गीता अ. ४, श्लो. ९)

अर्थ— (अर्जुन!) हे अर्जुन! (यः) जो प्राणी (मे) मेरे (दिव्यम्) अलौकिक (जन्म) जन्म (च) और (कर्म) कर्मको (एवम्) इस प्रकार जैसा कि पहिले कहा गया है (तत्त्वतः) यथार्थरूपसे (वेत्ति) जानता है (सः) वह प्राणी (देहम्) अपने शरीरको (त्यक्त्वा) छोडकर अर्थात् मृत्युके अनन्तर (पुनः) फिर (जन्म) जन्मको (न) नहीं (एति) प्राप्त होता है। परन्तु (सः) वह (माम्) मुझ सच्चिदानन्द स्वरूपको (एति) प्राप्त होता है॥९॥

वेदगीता (मंत्रः)

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि। धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत॥ (अथर्व. ५।१।२)

अर्थ- (यः) जो दिव्यदेह और दिव्य कर्मोंवाला परमात्मा (प्रथमः) अनादि होता हुआ भी (धर्माणि) सांसारिक धर्मोंको (आ ससाद) प्राप्त होता है अर्थात् संसारमें प्रकट होता है। (ततः) सांसारिक धर्मोंके ग्रहण करनेके अनन्तर (पुरूणि) बहुतसे (वपूंषि) देहोंको (कृणुषे) धारण करता है अर्थात् वह परमात्मा बहुत शारिरीक शक्तियोंको धारण करता है। (प्रथमः) सबका आदि अर्थात् पुरातन (धास्युः) जगत्को धारण करनेवाला यह परमात्मा (योनिम्)

× श्नथयन् = श्नथ हिंसायां णिचि घटादित्वात् मित्वे 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वम्।

⁕ इनक्षतः = नक्ष गतौ इकारोपजनश्छान्दसः यद्वा इनक्षतिर्व्याप्त्यर्थः।

* स्तवानः = 'सम्यानचस्तुवः' इति स्तौतेर्बहुलवचनात्केवलादप्यानच् प्रत्ययः।

+ जघान = अभ्यासस्य, ह्रस्वाभ्यासादुत्तरस्य हन्तेर्हकारस्य कुत्वम्।

§ संदिहः = दिह उपचये 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति बहुलवचनात् कर्मणि क्विप्'

दिव्य जन्म अर्थात मूल स्थानको (आ विवेश) प्रविष्ट होता है। (यः) जो परमात्मा (अनुदिताम्) और किसीसे न कही हुई (वाचम्) वेदवाणीको (आ+चिकेत) तीनों कालोंमें जानता है।

तुलना— गीतामें परमात्माके दिव्य जन्म और दिव्य कर्मोंवाले शरीरको मानुषी शरीरसे भिन्न, दिव्य शरीर जाननेवाला मुक्त हो जाता है।

वेदमें भी भगवान् अनादि होता हुआ भी लीलामात्रके लिये सांसारिक धर्मोंको अपनाता है अतः एव भिन्न भिन्न स्वरूपवाले शरीरोंको स्वीकार करता हुआ दिव्य कर्मोद्वारा दिव्य जन्म ग्रहण करता है और उस अवस्थामें किसीसे भी अनुपदिष्ट ज्ञानको अर्थात् वेदज्ञानको जानता है।

(१०) वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥
(गीता अ. ४, श्लो. १०)

अर्थ— हे अर्जुन ! (वीतरागभयक्रोधाः) हृदयसे राग, भय और क्रोधसे रहित हुऐ हुए (मन्मयाः) एकचित्त होकर मेरे स्वरूपको देखनेवाले (माम् +उपाश्रिताः) मेरी शरणमें प्राप्त हुए हैं। (ज्ञानतपसा) ज्ञानरूप तपसे (पूतपापाः) पापसे रहित हुए हुए अर्थात् पापोंसे छूटकर परमपवित्र हुए हुए(बहवः) बहुतसे प्राणी (मद्भावम्) मेरे भावको (आगताः) प्राप्त हो गये हैं अर्थात् मुझ मधुर स्वरूपमें मधुररूप होकर वास करते हैं ॥१०॥

वेदगीता (मंत्रः)

त्वे क्रतुमपि वृञ्जन्ति विश्वे द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः । स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाऽभि योधीः ॥

(ऋ. १०।१२०।३; साम. १४८५; अथर्व. ५।२।३, २०।१०७।६; ऐ. आ. १,१२; तै. ३।५।१०।१)

अर्थ- (यत्) जब (एते) यह (ऊमाः) सब ज्ञानरूपी तपसे तृप्त हुए हुए पुरुष (द्विः) राग और भय दोनोंसे रहित हुए हुए और (त्रिः) राग, भय, और क्रोध तीनोंसे रहित (भवन्ति) होते हैं। तब वे (विश्वे) सब पुरुष (त्वे) तुझ परमात्मामें (क्रतुम्) अपने अपने सकाम कर्मको (वृञ्जन्ति) समर्पण करते हैं। हे जीवात्मन् ! तू (स्वादोः) पियारे (स्वादीय) बहुत पियारेसे आत्माको (स्वादुना) परमप्रिय परमात्माके साथ (सृज) जोड दे। (अदः) उस (सुमधु) परम अमृतरूप भगवदर्पण ज्ञानको (मधुना) परम मधुर परमात्माके साथ (संसृज) जोड दे। तथा ब्राह्मणग्रन्थमें कहा है—

त्वयि इमानि सर्वाणि भूतानि मनांसि सर्वे क्रतवोऽपि वृञ्जन्ति ॥३॥

तुलना— गीतामें रागभयक्रोधसे रहित होना, भगवच्छरण जाना, भगवद्धाममें लीन होना ज्ञानरूपी तपसे पवित्र होना, मुक्तिका द्वार कहा है।

वेदमें कि रागमय कोधसे रहित होकर सब सकाम निष्काम कर्मोंको भगवदर्पण कर देना, आत्मज्ञानकी प्राप्तिका साधन कहा है।

(११) ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
(गीता अ. ४, श्लो. ११)

अर्थ— (पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (ये) जो पुरुष (यथा) जिस प्रकारसे (माम्) मुझे (प्रपद्यन्ते) शरणमें प्राप्त होते हैं अर्थात् मुझे भजते हैं। (अहम्) मैं भी (तान्) उन पुरुषोंको (तथैव) उसी प्रकारही (भजामि) भजता हूं अर्थात् भिन्न भिन्न फल याचना करनेवालोंको भिन्न भिन्न फल देता हूं। इस कारण (मनुष्याः) मनुष्य (सर्वशः) सब प्रकारसे (मम) मेरे (वर्त्म) मार्गको ही (अनुवर्तन्ते) अनुसरण करते हैं ॥११॥

वेदगीता (मंत्रः)

मनीषिणः प्र भरध्वं मनीषां यथायथा मतयः सन्ति नृणाम् । इन्द्रं सत्यैरेरयामा कृतेभिः स हि वीरो गिर्वणस्युर्विदानः ॥

(ऋ. १०।१११।१)

अर्थ— (मनीषिणः !) हे बुद्धिमान् जीवात्माओ ! (नृणाम्) कर्म करनेमें स्वतंत्र सब जीवोंकी (यथायथा) जैसे जैसे अर्थात् ज्ञानयोग प्रकारसे यद्वा कर्मयोग प्रकारसे (मतयः) आत्मध्यान साधना करनेवाली बुद्धियाँ हैं, वैसे उस उस प्रकारसे तुम भी (मनीषाम्) अपनी अपनी बुद्धिको ज्ञानयोग प्रकारसे अथवा

कर्मयोग प्रकारसे (प्र भरध्वम्) उस तरफ करो। अर्थात् जिस प्रकारसे जिस फलकी इच्छासे तुम परमात्माका पूजन करोगे, उस प्रकार उस कर्मके फलानुसार परमात्मा तुम्हें भी वही वही फल देगा। हे मुमुक्षु जीवात्माओ! इस परमेश्वरोपासक भी (सत्यैः) यथार्थ स्वरूप (कृतिभिः) अपने अपने कर्मोसे (इन्द्रम्) परमात्माकी ओर (एरयाम) गमन करें अर्थात् परमात्म-प्राप्तिके लिये प्रयत्न करें। (हि) क्योंकि (वीरः) सबसे वरनेयोग्य (गिर्वणस्युः) स्तुति करनेवाले भक्तोंको चाहता हुआ हुआ (सः) वह परमात्मा (विदानः) सबको जाननेवाला अर्थात् सर्वज्ञ है ॥१॥

तुलना- गीतामें भगवान्ने कहा है जो पुरुष जिस रीतिसे और जिस फलकी इच्छाके लिये मुझे भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार उस उस फलको देता हूं।

वेदमें भी मनुष्योंकी जैसी जैसी बुद्धियाँ हैं वह मुझमें वैसा वैसी स्थिर करें। मनुष्य भी सत्य कर्मोसे परमात्मा-सेवन करे, क्योंकि परमात्मा सबसे वरनेयोग्य और सर्वज्ञ है।

(१२) कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥
(गीता. अ. ४, श्लो. १२)

अर्थ— (इह) इस संसारमें (कर्मणाम्) कर्मोके (सिद्धिम्) फलको (कांक्षन्तः) इच्छा करते हुए प्राणी (देवताः) अग्न्यादि देवोंको (यजन्ते) पूजते हैं। (हि) क्योंकि इन देवताओंके पूजनेसे (मानुषे लोके) इस मनुष्यलोकमें (कर्मजा) सकाम कर्मोसे उत्पन्न हुई हुई (सिद्धिः) सिद्धि अर्थात् फल (क्षिप्रम्) बहुत जल्दीही (भवति) प्राप्त होती है अर्थात् लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणाकी सिद्धि शीघ्रही हो जाती है ॥१२॥

वेदगीता (मंत्रः)

तेऽविन्दन् मनसा दीध्याना यजुः ष्कन्नं प्रथमं देवयानम्। धातुर्द्युतानात् सवितुश्च विष्णोरा सूर्यादभरन् घर्ममेते ॥
(ऋ. १०।१८१।३)

अर्थ— (ते) इस संसारमें यज्ञानुष्ठानद्वारा कर्मोकी सिद्धिको चाहनेवाले पुरुष (मनसा) शुद्ध मनसे (स्कन्नम्) आसेवन करनेयोग्य (यजुः) यजुर्वेद मंत्रोंद्वारा कहे हुए यज्ञको (प्रथमम्) और मुख्य (देवयानम्) देवताओंकी आराधनावाले मार्गोको (अविन्दन्) प्राप्त करते हैं। अर्थात् ढूंढते हैं। (एते) कर्मोके फलोंको चाहनेवाले ये पुरुष (द्युतानात्) प्रकाशमान ज्योतिःस्वरूप (धातुः) जगत्के धारण और पालन-करनेवाले (सवितुः) और जगत्के उत्पन्न करनेवाले (विष्णोः) सर्वव्यापक और (सूर्यात्) सारे जगत्को अपने प्रकाशद्वारा प्रवृत्त करानेवाले सूर्य-स्वरूप परमात्मासे (घर्मम्) यज्ञके साधन-रूप यज्ञादि कर्मोके फलोंके शीघ्र देनेवाले कर्मको (आ+अभरन्) ग्रहण करते हैं।

तुलना— गीतामें कर्मकी सिद्धिको चाहनेवाले पुरुष इस संसारमें लौकिक और वैदिक कर्मोका करके लौकिक और वैदिक फलोंको पाते हैं।

वेदमें भी मनसे यज्ञोंको करते हुए सर्वव्यापक परमात्मासे उन किये हुए यज्ञोंके कर्मोके फलोंको पा लेते हैं।

(१३) चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥
(गीता. अ. ४, श्लो. १३)

अर्थ— (गुणकर्मविभागशः) रजः, सत्व, तम आदि गुणोंके विभागानुसार और शम, दम, युद्धादि कर्मोके विभागानुसार (चातुर्वर्ण्यम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्ण (मया) मेरे द्वारा (सृष्टम्) रचे गये हैं। (तस्य) उस कर्मका (कर्तारम्) कर्ता (अपि) भी (माम्) मुझे (अकर्तारम्) अकर्ता और (अव्ययम्) नाशरहित (विद्धि) जान। अर्थात् व्यवहारदृष्टिसे उसका कर्ता और परमार्थदृष्टिसे वस्तुतः मुझे अकर्ता सब कर्मोसे रहित और अविनाशी जान॥ १३ ॥

वेदगीता (मंत्रः)

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ (ऋ. १०।९०।१२; वा. य.३१।११; अथर्व. १९।६।६; तै. आ. ३।१२।५)

अर्थ— (अस्य) इस विराट्रूप परमात्माका (मुखम्) मुख अर्थात् अग्निस्वरूप (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (आसीत्) है अर्थात् ब्रह्म-जातिविशिष्ट पुरुष इस विराट्के मुखसे प्रकट हुआ। (राजन्यः)

क्षत्रिय (बाहू) उस विराट्के बाहू (कृतः) बने अर्थात् बाहूसे क्षत्रिय प्रकट हुए। (तत्) तब (अस्य) इस विराट् स्वरूप परमात्माकी रानें (ऊरू) ऊरू अर्थात् साथलें (वैश्यः) वैश्य हुई (पद्भ्याम्) उस विराट् स्वरूप परमात्माके पावंसे (शूद्रः) शूद्र उत्पन्न हुआ। अर्थात् प्रत्येक ब्राह्मणादि वर्ण अपने सत्त्वादि गुणोंके विभाग और अपने अपने कर्मफलानुसार प्रकट हुए ॥ १२ ॥

तुलना- गीतामें चारों वर्ण पूर्व जन्मके कर्मों और सत्त्वादि गुणानुसार प्रकट हुए। उसका कर्ता कर्मफलोंके देनेसे परमात्मा है। और स्वयं अकर्ता तथा अव्यय है, ऐसा कहा है।

वेदमें भी ब्राह्मणादि चारों वर्ण पूर्वजन्मके कर्म और गुणानुसार संसारमें उत्तम मध्यम मध्यमतर और निचले दर्जेके कहे गये हैं।

(१४) न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

(गीता अ. ४, श्लो. १४)

अर्थ- (कर्माणि) संसारमें मुझसे किये हुए शुभ वा अशुभ कर्म (माम्) मुझे (न लिम्पन्ति) नहीं लपेट सकते हैं, क्योंकि (कर्मफले) उन शुभाशुभ कर्मोंके शुभाशुभ फलोंमें (मे) मेरी (स्पृहा) आसक्ति अथवा आकांक्षा (न) नहीं है। (इति) इस प्रकार (यः) जो पुरुष (माम्) मुझे (अभिजानाति) आत्मज्ञानद्वारा पहिचानता है (सः) वह (कर्मभिः) किये शुभाशुभ कर्मोंसे (न बध्यते) नहीं बांधा जाता ॥१४॥

वेदगीता (मंत्रः)

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

(वा. य. ४०।२)

अर्थ- निःस्पृह योगीको ज्ञानप्राप्तिके वास्ते कर्म करनेमें अधिकार है। इस मंत्रसे यह सूचित होता है। (इह) इस संसारमें (कर्माणि) लोगोंको कर्ममें प्रवृत्त करनेके लिये मुक्तिके साधक लौकिक और वैदिक कर्मोंको (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शतं समाः) सौवर्षपर्यन्त अर्थात् अपने जीवनपर्यन्त (जिजीविषेत्) पथ्य और हितके करनेवाले भोजनाचार और व्यवहारसे जीनेके लिये इच्छा करे। (एवम्) ऐसे निःस्पृहताके आचरण करनेसे (त्वयि) तुझ निस्पृह पुरुषमें (कर्म) मुक्त्यर्थ किया हुआ निष्काम कर्म (न लिप्यते) बन्धन नहीं करता। (इतः) इस प्रकारसे (अन्यथा) अन्य प्रकार कोई (न अस्ति) नहीं है ॥२॥

तुलना— गीतामें निष्काम कर्म करनेवालेको कर्म बन्धनमें न करते। ऐसा जाननेवाला कर्मोंके बन्धनमें नहीं पडता।

वेदमें भी आयुःपर्यन्त निष्काम कर्म करनेकी आज्ञा है, जिन कर्मोंके करनेसे मनुष्य संसार-बन्धनमें नहीं आता, मुक्त हो जाता है।

(१५) एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥

(गीता अ. ४, श्लो. १५)

अर्थ--(एवम्) मैं कर्मकर्ता नहीं मुझे कर्मफलकी इच्छा नहीं है, ऐसे (ज्ञात्वा) जानकर (पूर्वैः) तुझसे पहिले अश्वपति, ययाति, जनकादि (मुमुक्षुभिः) मोक्षकी इच्छा करनेवाले राजर्षियोंसे (अपि) भी लोकसंग्रहार्थ वा अन्तःकरणकी शुद्धिके वास्ते (कर्म) नित्य-नैमित्तिक वैदिक तथा लौकिक कर्म (कृतम्) किया गया। तथा (पूर्वैः) अबसे पहिले नारद, वसिष्ठ, विश्वामित्रादि (मुमुक्षुभिः) मोक्षकी इच्छावाले महर्षियोंसे (अपि) भी (पूर्वतरम्) बहुत पहिले सत्ययुगमें लोकसंग्रहार्थ (कृतम्) कर्म किया गया। (तस्मात्) इसलिये (त्वम् अपि) तू भी (कर्म) अहंकार तथा फलकी इच्छासे रहित होकर कर्मोंको (कुरु) कर ॥१५॥

Regd. No. B. 1463